आगम-निबंध-माला। ग्रंथ ९

ॐ

शिवसंकल्पका विजय।

[इसमें निम्न निबंध हैं— (१) शिवसंकल्प, (२) मनकी विलक्षण शक्ति, (३) मनका वेग, (४) स्वप्नका अनुभव, (५) अपने प्रभावका गौरव, (६) पुरुषार्थके लिये उत्साहमय प्रेरणा, (७) शत्रु कौन है? (८) विजय प्राप्त करनेकी कला, (९) कर्मका तत्त्व, (१०) पुरुषार्थ करनेवालेको ही देवता सहायता करते हैं, (११) सब सुखोंकी एकसाथ प्राप्ति।]

लेखक और प्रकाशक
श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,
स्वाध्याय-मंडल, औंध (जि० सातारा.)

तृतीय वार

संवत् १९९१, शक १८५६, सन १९३४.

ॐ

शिवसङ्कल्पका विजय

लेखक

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,
स्वाध्याय मंडळ, औंध, (जि० सातारा.)

मूल्य ॥)

मुद्र

विषयसूची ।

वास्तविक बात ।

वास्तविक बात यह है कि "जैसा आपका संकल्प होगा, वैसी ही आपकी योग्यता होती है ।" यदि यह सत्य है, तो अन्य सब विचार छोडकर अपने सब प्रयत्नोंसे अपनेही संकल्प शुद्ध, शिव और मंगलमय करनेकी पराकाष्ठा क्यों नहीं करते? एक-वार ऐसा करके तो देखिये ।

औंध, जि० सातारा,
११ वैशाख सं. १९९१

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,
स्वाध्याय-मंडल ।

मुद्रक और प्रकाशक — श्रीपाद दामोदर सातवळेकर, भारत मुद्रणालय,
औंध, (जि० सातारा.)

शिवसंकल्पका विजय।

शिव-संकल्प।

मनुष्यके मनका धर्म कल्पना करना है। जागृतिमें मनुष्यका मन तर्कवितर्क कुतर्कके बिना रह नहीं सकता। यदि मनुष्यका मन संकल्पविकल्पात्मक कल्पना करताही रहेगा, तो फिर उसको ठीक प्रकारकी कल्पना करनेकी शिक्षा क्यों न दी जावे? सुशिक्षाके विना मन कुतर्क करेगा और गिरेगा। सुशिक्षासे मन उत्तम मार्गपर चलता हुआ उत्तम संकल्प करके अपनी अवस्था उच्च बना सकता है।

मनुष्यकी उन्नतिकी कोई अवधि नहीं है। मनुष्यका अभ्युदय मर्यादासे परिमित नहीं है। परंतु जब वह अपने ही कुतर्कोंसे परिमित होता है, तब मनुष्यके सामने उदासीनता उत्पन्न होती है। इसलिये ऋषिमुनियोंने सिद्धान्त बनाया है कि 'मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः।' मनुष्योंका मनही उनके स्वातंत्र्य और पारतंत्र्यका कारण है। उत्तम सुसंस्कारोंसे शुद्ध मन धारण करनेवाले मनुष्य स्वातंत्र्यसुख अर्थात् मुक्तिका आनंद प्राप्त करते हैं, और जिनका मन गुलामीके कुत्सित विचारोंसे परिपूर्ण होता है, वे सदा परतंत्रताके विविध बंधनोंमें सडते और मरते

हैं। मनकी शक्ति इस प्रकार विलक्षण है। मनही 'कल्पतरु' है। कल्पनाओंका तरु अर्थात् वृक्ष मनही है। जैसी कल्पना आप करेंगे वैसेही आप बन जावेंगे। आपके मनकी इतनी विलक्षण शक्ति है, इसीलिये आपको सावधान रहना चाहिए। अन्यथा जैसी चाहे वैसी कल्पना मनमें आ जायगी, और उसका परिणाम बडा भयानक हो जायगा। इसलिये वेदने कहा है—

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ॥
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥ यजु. ३४।६

"जिस प्रकार उत्तम सारथी रथके घोडोंको लगामोंके द्वारा उत्तम मार्गपर ही ले जाता है, उस प्रकार जो मन मनुष्योंके इंद्रियोंको चलाता है, वह हृदयनिवासी, उत्साही और वेगवान् मेरा मन सदा उत्तम संकल्प करनेवाला होवे।"

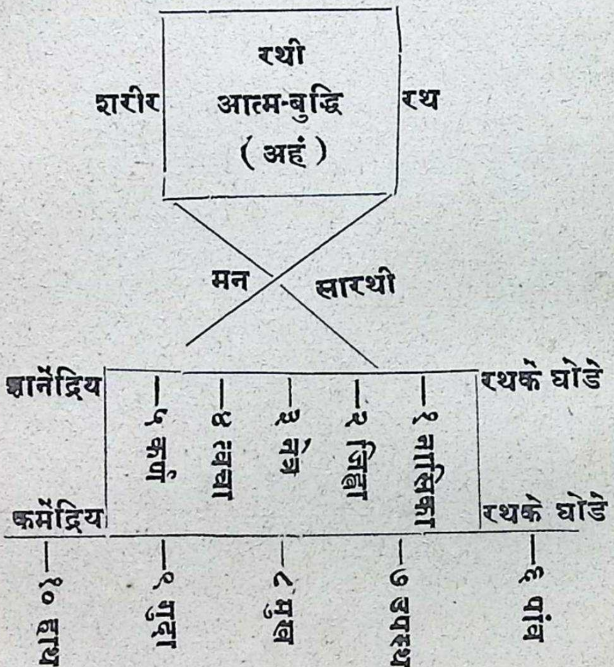
वेदका यह उत्तम उपदेश है। परंतु क्या इस प्रकार वैदिकधर्मी चल रहे हैं? जो मनुष्य इस उपदेशके अनुसार अपने मनकी शक्तिको जानेंगे, और उस विलक्षण शक्तिको अपने स्वाधीन रखकर योग्य कर्ममेंही उस शक्तिका उपयोग करेंगे, वे लोगही इस लोकमें अभ्युदय और परलोकका निश्रेयस निःसंदेह प्राप्त कर सकेंगे। वैदिक धर्मका यह प्रताप है, कि यह धर्म जहां रहेगा, वहां अभ्युदय और निश्रेयस सदा प्रकाशित होते रहेंगे। वैदिक धर्मके होनेका तात्पर्य आचरण होनेसे है; न कि केवल विचार और उच्चारणसे। केवल विचार, उच्चारण और लेखोंमें वैदिक धर्मको रखनेवाले कभी उन्नत नहीं हो सकते। यहां कटिबद्ध होकर सदा शुद्ध आचारका ही माहात्म्य है। उक्त वेदमंत्रका दिव्य उपदेश आचारप्रधानही है। इसलिये पाठकोंसे प्रार्थना है, कि जो कुच्छ वे वेदमंत्रोंमें पढेंगे, शीघ्रही आचरणमें लानेका यत्न करें। एक समय तोतेके समान कंठ करनेवाले वेदभक्त थे, अब अर्थका डंका

बजानेवाले वेदभक्त हो गये हैं। आचरणकी दृष्टिसे दोनोंके पास शून्यही है।

मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।

इस मंत्रका केवल पाठ करनेवाले और केवल अर्थ जाननेवाले दोनों तबतक उन्नत नहीं होंगे, जबतक वे अपना मन शुभसंकल्पमय नहीं करेंगे। एक कुली था जिसके सिरपर खांडकी बोरी थी, परन्तु उसको बोरीके अंदर क्या वस्तु है, इसका पता न था। उसके पीछेसे दूसरा कूली आया, उसको पता था कि अपने सिरपरकी बोरीमें मिश्री है; परंतु वह बोरीका स्वामी न होनेके कारण उसको खा नहीं सकता था। मिश्रीका आस्वाद लेनेक दृष्टिसे दोनोंका अधिकार भार सहनेकाही है। इसी प्रकार वेदको केवल कंठ करने वाले और केवल घमंडके साथ अर्थोंका शास्त्रार्थ करनेवाले दोनों नीचेही रहेंगे; परंतु जो वेदके उच्च उपदेशके समान अपना आचरण बनावेगा, वही उच्च पदवी पा सकता है। इसलिये "वेदका पढना पढाना, सुनना सुनाना तथा वेदके उपदेशके अनुसार स्वयं आचरण करना और वैसाही उत्तम आचरण करनेके लिये दूसरोंको प्रेरणा करना उच्च श्रेणीके मनुष्योंका परम धर्म है।" इसलिये उक्त मंत्रका विचार मनमें सदा जागृत रखिए— (यहां पृष्ठसंख्या ६ पर का चित्र देखिये)

शरीररूपी इस उत्तम रथमें जीवात्मा बैठा है और उस रथको दश घोडे जोते हैं। मन इस रथमें सारथी है और आत्मा प्रवासी है। मालिक, स्वामी, धनी, इंद्र जीवात्माही है। जहां वास्तवमें उसको जाना है, उसी जानेवाले मार्गपरसे इस रथकी गति होनी चाहिए। यदि मनरूपी सारथी शराब पीकर उन्मत्त होगा, यदि दसही घोडे अपने योग्य मार्गको छोडकर जिधर चाहे उधर भटकने लगेंगे, तो इस शरीरकी और प्रवासी



जीवात्माकी कैसी अवस्था होगी ? आपही सोच सकते हैं । और पश्चात् आप अपनी अवस्था भी सोचिए । क्या आप अपने मन, इंद्रिय और शरीरके सच्चे स्वामी बने हैं ? क्या आपके हितके मार्गपरसे आपका मन सब इंद्रियोंको चला रहा है ? क्या क्रोध काम आदि घातक पत्थरोंसे युक्त भयानक स्थानोंमें आपका रथ नहीं जा रहा है ? क्या सब मनोविकारोंपर आपका प्रभुत्व स्थापित हुआ है ? क्या आपका मन कभी कुविचारोंके गड्ढोंमें मूर्च्छित होकर पडता नहीं ? क्या आपका मन सदा शुभ कल्पनाओंमें और शुभ कर्मोंमें ही रमता है ? यदि नहीं, तो आपको

उचित है कि वैदिक धर्मके शुभ नियमोंके अनुकूल चलकर आप अपने मनके उत्तम स्वामी बन जाइए। दूसरे व्यवहार आपके काम नहीं आवेंगे। जो इस बातको छोडकर दूसरेही कार्योंमें लगता है वही दस्यु होता है। देखिए वेद कहता है—

अकर्मा दस्युरभि नो अमंतुरन्यव्रतो अमानुषः ॥ ऋ. १०।२२।८

"मनुष्योंमें दस्यु वह होता है कि जो (अ-कर्मा) पुरुषार्थ प्रयत्न नहीं करता, (अ-मंतुः) सुविचार नहीं करता, (अन्य-व्रतः) दूसरेही कार्य करते रहता है, और उन्नतिके कार्योंको छोड देता है, और जो (अ-मानुषः) मनुष्यत्वके अयोग्य कुत्सित कर्म करता रहता है। ये दस्युके लक्षण हैं। (१) आलस्य, (२) अविचार, (३) कुकर्म और (४) अमानुष क्रूर कर्म, ये चार लक्षण हैं, कि जिनसे दस्यु पहचाने जाते हैं। हरएकको सोचना चाहिए कि अपने द्वारा किस श्रेणीके कर्म हो रहे हैं?

आप जानते हैं कि सुख बाहिरसे प्राप्त नहीं होता है। आपकी मानसिक अवस्थापर ही सुख अवलंबित है। आप सुखी हैं या दुःखी हैं, इसका विचार कीजिए। आपको दुःख होनेपर आप दूसरोंको बुरा भला कहनेके लिये प्रवृत्त हो रहे हैं; यही बडी भारी गलती है। यही प्रवृत्ति बहुत बुरी है। अपने मनकी अवस्थाके कारणही आपको दुःख हो रहा है। देखिए सोचिए और अपने मनकी परीक्षा कीजिए।

वेद कहता है कि—

भद्रं नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम्॥ (ऋ. १०।२५।१)

"मनको (भद्रं) शुभ विचारमय, (दक्षं) दक्षतासे युक्त और (क्रतुं) पुरुषार्थके विचारोंसे उत्साही बनाइए।" फिर आपके पास दुख कहां रहेगा? इसलिये कहा है कि—

मनो यज्ञेन कल्पताम्॥ (यजु. १८।२९)

"मन सत्कर्ममें लगाइए।" यही एक उपाय है, दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसको छोडकर यदि आप अन्य कुव्यवहारोंमें अपना कदम बढायेंगे तो आप "अन्य-व्रत" होनेके कारण दस्यु बनेंगे।

अपना समय व्यर्थ नहीं खोना चाहिए। अश्लील उपन्यास, निंदासे भरे हुए अखबार, व्यर्थ गपोडोंके पुस्तक, निरर्थक गप्पाष्टक आदिमें अपना समय न गँवाए। गया हुआ समय फिर नहीं मिलेगा। जो समय है, उसका अत्यंत योग्य उपयोग कीजिए। वेदने कहा है—

आयुः यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां
चक्षुः यज्ञेन कल्पतां श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां
वाग् यज्ञेन कल्पतां मनो यज्ञेन कल्पतां
आत्मा यज्ञेन कल्पतां ब्रह्मा यज्ञेन कल्पतां
ज्योतिः यज्ञेन कल्पतां स्वः यज्ञेन कल्पतां
पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम् ॥

(यजु. १८।२९)

"हे लोगो! आपको उचित है कि आप अपनी आयु, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, वाणी, मन, आत्मा, ज्ञान, तेज, स्वत्व, आदि सब कुछ जो कुछ अपनी शक्ति है वह सब सत्कर्मके लिये अर्पण किजिए।" क्यों कि सत्कर्मके विना जो आयु चली जाती है, वह व्यर्थ है। समयपर योग्य सत्कार्य करनेका अभ्यास कीजिए, जिससे आप थोडे समयमें बहुत सत्कर्म कर सकेंगे। यदि आप सत्कर्म करनेमें देरी करेंगे, तो निश्चय जानिए कि उन्नति होनेमें भी उतनीही देरी लगेगी।

अपने पास आत्मविश्वास रखिए। बोलने चालनेमें अपना विश्वास और अपनी अचल श्रद्धा बताइए। श्रद्धा और विश्वास-

से ही उच्चता प्राप्त होती है। अपने विषयमें जिसको संशय है, वह अवश्य गिर जाता है। जिसके मनमें श्रद्धा नहीं है, वह अधोगतिमें जाता है ।अपनी शक्ति, अपना प्रभुत्व और अपनी दक्षतापर निश्चयपूर्वक पूर्ण विश्वास रखिए। वेदने कहा है कि—

स्वं महिमानमायजतां ॥ (यजु. २१।४७)

Let him worship his own majesty. "अपने प्रभावका गौरव अपने मनमें रखिए ।" इसीसे आत्मविश्वास बढता है, और अपनी शक्ति बढती है। 'अपने आपको तुच्छ समझनेवाले' प्रतिदिन तुच्छताकी ओरही जाते हैं। अपने विषयमें अविश्वास होनेसे अंतमें मनुष्य सब प्रकारसे निकम्मा हो जाता है जो विचार आप मनमें रखेंगे वैसे ही आप बनेंगे। इसीलिये 'शिव-संकल्प' करना सदा उचित है।

यदि दूसरोंका विश्वास आपपर न हो तो उसकी पर्वाह न कीजिए। क्योंकि दूसरोंके विश्वाससे आपकी उन्नति नहीं होगी। विरोधियोंके साथ युद्ध करते हुए और अपना सामर्थ्य बढाते हुए आप विजयी हो सकते हैं। परंतु यदि अपना विश्वास आप-पर न होगा तो आपको कोई बचा नहीं सकता । जब आप दिनरात 'मैं हीन और दीन हूं' ऐसा जपते जांयगे, तब आपको उठानेवाली शक्ति इस जगत्में कोई नहीं होगी; वेद कहता है कि—

अदीनाः स्याम शरदः शतं ॥ (यजु. ३६।२४)

'अदीनता' का जप कीजिए। मैं कभी दीन नहीं होऊंगा, मैं सदा श्रेष्ठ होऊंगा, मैं पराजित नहीं होऊंगा, मैं स्वयं श्रेष्ठ होकर दूसरोंको श्रेष्ठ करूंगा, मैं अपनी दीनताको दूर करके दूसरे दीनोंका उद्धार करूँगा।इस प्रकारके उच्च वैदिक विचार

सदा मनमें रखिए। मनुष्य जैसे विचार करता है, वैसाही बन जाता है।

मनकी शक्तियोंका ज्ञान प्राप्त कीजिए। आप अपने मनको कमजोर समझते हैं, परंतु वास्तवमें आप देखिए, आपका मन बडा ही शक्तिशाली है। उसमें शक्ति है इसी लिये वह बुरे कर्मोंमें प्रवृत्त होता है। यदि उसमें शक्ति न होती, तो बुरे कर्मभी उससे न होते। इसलिये बुरे कर्मोंसे अपने मनको रोकिए और उसका मार्ग अच्छा कीजिए। बस, इतना करनेसेही आपके मनका तेज चमकने लगेगा। मनके प्रभु बनकर रहिए, मनके गुलाम बनकर परतंत्र न रहिए। इसी लिये धर्म प्रवृत्त हुआ है। अपनी कम-जोरियोंको चाहे आप न जानिए। केवल अपनी शक्तिको सबसे प्रथम जानिए। दूसरोंकी कमज़ोरियोंका विचारभी छोड दीजिए। यदि दूसरोंका विचार करना है तो आप उनके 'श्रेष्ठ गुणोंका विचार' कीजिए। इससे आपके मनमें श्रेष्ठ गुणोंका वायुमंडल जमा हो जायगा।

"मुखसे अच्छे शब्द बोलिए, कानसे अच्छे शब्द सुनिए आंखसे अच्छेही पदार्थ देखिए, शरीरसे अच्छेही कर्म कीजिए"

(ऋ. १।८९।८)

यह वेदका उपदेश है। जब आप अपने धर्मकी प्रतिष्ठा बढानेके लिये दूसरोंके मतमतांतरोंका खंडन करनेमें प्रवृत्त होते हैं, तब दूसरोंके छोटेसे दोषका पर्वत बना देते हैं। इससे गुणग्राहकता कम हो रही है। जिस प्रकार मधुमक्षिका वृक्षोंके कांटोंकी ओर न देखती हुई, फूलोंका मधु ग्रहण करती रहती है, उसी प्रकार दूसरोंके कांटोंमें आप न फँसते हुए जहाँसे आपको मधु मिले, लेते जाइए। आप काँटोंको इकठ्ठा क्यों कर रहे हैं? फूलोंको इकठ्ठा कीजिए। यही धर्म है।

द्वेष करनेवालोंपर प्रीति कीजिए, क्रूरोंपर दया कीजिए, दुःख प्राप्त होनेपर हँसनेका अभ्यास कीजिए, दुःख देनेवालेकाभी स्वयं अहित न कीजिए। सारांश कि आपसे सदा अच्छे श्रेष्ठ विचार-उच्चार-आचारोंकाही स्रोत चलता रहे, ऐसी व्यवस्था कीजिए। दुनियाके कष्टोंमें अपनी ओरसे आप कष्टोंकी संख्या न बढाइए, परंतु आपके शुभ संकल्पोंसे विश्वमें शुभ विचारोंकी लहर चलने दीजिए।

'शिवसंकल्प' अपने मनमें सदा जागृत रखिए। किसी प्रकार-की अशिव, अशुभ, अभद्र बात आपके मनमें कभी न आने दीजिए। उत्साही और आत्मविश्वासी श्रेष्ठ लोगोंकी संगतिमें रहिए। अपने घरमें, और घरके बाहिर ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कीजिए कि जो शुभ वायुमंडलसे पवित्रता बनानेवाली हो। उच्चता, अभ्युदय और उन्नति साधन करनेका यही एक 'सत्य मार्ग' है। इससे भिन्न नीचता, अवनति और दुःस्थिति प्राप्त करानेवाले कुमार्ग हजारों हैं। कुमार्गोंके प्रलोभनोंमें न फँसते हुए निश्चयसे एक शुद्ध वैदिक धर्मके सत्य मार्गपरसेही चलिए। सत्यनिष्ठा अर्थात् सत्यका आग्रहही इस मार्गका नेता है। जहां आप सत्यसे दूर होंगे वहाँ आप धर्मसे भ्रष्ट हो सकते हैं।

आपकी शांति, प्रसन्नता, सुख, आनंद और शक्तिकी हानि कोई नहीं कर सकता, जबतक की आपही इनका विरोध न करेंगे। न जानते हुए आप मनोविकारोंकी कुत्सित भावनाओंके गुलाम बन जाते हैं, और नाना प्रकारके हीन प्रलोभनोंमें फँस जाते हैं, दूसरोंकी व्यर्थ निंदामें कालक्षेप करते हैं, बडे पुरुषोंका महत्त्व सहन न होनेके कारण निष्कारण उनका मत्सर करते हैं, क्रूरताका अवलंबन करके दूसरेके घातसे अपनी उन्नति करनेकी व्यर्थ इच्छा धारण कर रहे हैं, कामोपभोगकी लालसा तृप्त करनेके

लिये दूसरोंके सतीत्वकी आहुतियाँ लेनेका भयानक प्रयत्न किया जाता है, अयोग्य महत्त्वाकांक्षामें अपना सब जीवन व्यर्थ खो रहे हैं। कई लोग अपने अज्ञानकाही घमंड धरकर मूढ हो रहे हैं। ये ही मनके भाव हैं कि जो आत्माकी प्रसन्नताका नाश कर रहे हैं। इसीलिये वेद कहता है कि 'मे मनः शिवसंकल्पं अस्तु।' देखिए वेदका कितना उच्च उपदेश है।

मन जब 'शिव-संकल्प' करने लगता है तभी उसकी योग्यता बढती है, उसका तेज फैलने लगता है और वह जो कहता है, बन जाता है। शिव-संकल्प करनेवाला मनुष्य जहाँ जाता है,वहाँ सब शुभ मंगल बना देता है। बुरे समयको भला बना देता है, क्योंकि उत्साहपूर्ण अमृतका स्रोत उसके अंतःकरणसे बहने लगता है। इसलिये हीन गुण वहाँ नहीं रह सकते, जहां शिव-संकल्प रहता है।

निराशा और भय वहाँ नहीं रहता, जहाँ शिवसंकल्प रहता है। क्यों कि संकुचित भावमें भय है, व्यापक उच्च भावनामें भय कहां है? कितनाही भयका डरानेवाला प्रसंग आ जावे, बडे प्रबल विरोधियोंका मुकाबला करना पडे, बडी मुसीबतका घोर समय आ जावे, किंवा कोईभी सहायता करनेके लिये प्राप्त न होवे, तो उस समय एक मात्र 'शिव-संकल्प' है, जो सब कठिनाइयोंसे पार ले जा सकता है। यह शिवसंकल्प धैर्यका साथी और विजयका पिता है। जो मनुष्य शिवसंकल्प करता है वही मनुष्य योग्य बात योग्य समयमें उत्तम रीतिसे करनेके लिये नहीं डरता, क्यों कि उसके मनके अंदर एकही शिवमंगलमय परमेश्वरका शुभसंकल्प सदा जागृत रहता है।

यजुर्वेद अंदर (अ. ३४।१—६) शिवसंकल्पके केवल छः मंत्र हैं। परंतु उनमें मनके तत्वज्ञानकी सब बातें रखी हैं। मनकी

विलक्षण अद्भुत शक्तिका वहाँ स्मरण दिलाया है। इसलिये पाठकोंसे प्रार्थना है कि वे नित्य उन छः मंत्रोंका अवश्य मनन करें।

वास्तवमें सब वेदही शिवसंकल्पमय है। वेदके सूक्त सच्चे सु-उक्तियोंसे भरे हैं। उत्तम वचन अर्थात् वेदके सुभाषितोंके समान भाव मनमें रखने उचित हैं और उन्हीं बातोंको बोलना और सुनना चाहिए। मनुष्यका निरुत्साह हटानेवाले वेदमंत्रही हैं, इसलिये उद्धारकी इच्छा करनेवाले लोगोंको वेदके मंत्रोंका भाव मनमें धारण करना उचित है। देखिए वेदके भाव कैसे हैं-

अहमिंद्रो न पराजिग्य इद्धनं न मृत्यवे अवतस्थे कदाचन ॥ सोममिन्मा सुन्वन्तो याचता वसु न मे पूरवः सख्ये रिषा-थन ॥ ५ ॥ अभीदमेकमेको अस्मि निष्षाळभी द्वा किमु त्रयः करन्ति ॥ खले न पर्षान् प्रति हन्मि भूरि किं मा निंदंति शत्रवोऽनिंद्राः ॥७॥ ऋ. १०।४८

(१) "अहं इंद्रः।"—मैं इन्द्र हूं। मैं आत्मा हूं। मैं ही मुख्य हूं। मेरी अर्थात् इंद्रकी विविध शक्तियाँही इंद्रिय (इंद्र-इ-य) रूपसे महान् कार्य कर रहीं हैं। आंखोंकी दर्शनशक्ति, कानोंकी श्रवणशक्ति, तथा अन्य इंद्रियों, अंगों और अवयवोंकी सब विलक्षण शक्ति मेरी ही है। मैं इंद्रियादिकोंका प्रेरक आत्मा हूं और मेरी शक्ति ही इस शरीरमें सर्वत्र कार्य कर रही है। मैं इंद्र अर्थात् ऐश्वर्यवान् हूं और सब इंद्रियोंकी शक्तियां ही मेरी ऐश्वर्य हैं।

(२) "अहं इत् धनं न पराजिग्ये।"—मैं अपने ऐश्वर्यके कारण किसीसे पराभूत नहीं हो सकता। अर्थात् मेरा ऐश्वर्य, मेरा बल किसी अन्यसे न्यून नहीं है। मेरा कभी पराभव नहीं होगा। मैं विजय प्राप्त कर सकता हूं। सदा मेरा विजय ही

होता रहेगा। बुरी अवस्था मेरे सन्मुख खडी नहीं रह सकती। कितना भी कठिण प्रसंग आ गया, तो भी उसका मुझे डर नहीं है। मैं आपत्तियोंसे न डरता हुआ, अवश्य अपना सीधा मार्गक्रमण करके अपनी उच्चताको प्रकाशित करूँगा।

(३) " मृत्यवे कदाचन न अव तस्थे।"—मैं कदापि नहीं मर सकता। मैं अमर हूँ। मृत्यु मेरा क्या करेगा ? जलसे मैं गीला नहीं होता, आग मुझे जला नहीं सकती वायु मुझे सुखा नहीं सकता, पृथ्वीसे मुझे ठोकर नहीं लग सकती। क्यों कि मैं आत्मा हूँ और मैं सबका प्रेरक स्वामी हूँ। मैं अपने आत्मस्वरूपको कभी नहीं भूलूँगा। बाल, तरुण, वृद्ध अवस्थाओंसे मैं भिन्न स्वतंत्र हूं। जागृत्, स्वप्न, सुषुप्तिसे मैं परे हूँ। जन्ममरणसे मैं मैं दूर हूँ। मैं अज, और अविनाशी हूँ। मुझे मृत्युका भय नहीं है। मैं व्याधि और बीमारियोंसे परे हूँ। शरीरसे भिन्न मैं अविकारी आत्मा हूँ। इस उच्च स्थितिसे मुझे कोई दूसरी शक्ती नीचे नहीं गिरा सकती।

(४) " सोमं सुन्वन्तः इत् वसु याचत।"- हे लोगो ! अग्नि और सोम ये दो शक्तियाँ आपके अंदर हैं। शांति और प्रसन्नता देनेवाली सोमशक्तियाँ आपके मनके अंदरही हैं। उस सोमके शांतिपूर्ण रसका पान करते हुए (वसु) अपने निवासके साधनों-को प्राप्त कीजिए। मैं अपने शांत शक्तिको अपने स्वाधीन रखता हुआ, अपने निवासके लिये योग्य साधनसामग्रीको प्राप्त करता हूँ। मैं आत्मा, इंद्र अथवा अग्निरूप हूँ और इस शरीरमें मेरेसे भिन्न सब शारीरिक शक्तियाँ सोमरूप हैं। इन सोमशक्ति-योंसे मैं योग्य उपयोग लेता हुआ अपना विजयका मार्ग क्रमण कर रहा हूँ।

(५) " हे पूरवः ! मे सख्ये न रिषाथन।—" हे नागरिको !

हे सज्जनो ! मैं जो आत्मा हूँ उसकी मित्रता करनेसे किसीका नाश न होगा। आत्माका विचार, आत्मशक्तियोंका चिंतन करने और अपनी शक्तिपर विश्वास रखनेवाले मनुष्योंका कभी नाश नहीं हो सकता। आत्मविश्वासही सब उच्चताका एक मात्र साधन है।

(६) " एकः अस्मि।"—मैं अकेला हूँ। मैं आत्मा अकेलाही हूँ। मन, चित्त, अहंकार, पंच ज्ञानेंद्रिय, पंच कर्मेंद्रिय आदि मेरेसे भिन्न शक्तियां बहुत हैं। परंतु हे विविध शक्तियाँ धारण करनेवाले विविध इंद्रियो ! यह आप न समझें कि मेरा मुकाबला कर सकोगे। मैं अपराजित आत्मा हूँ।

(७) " इंद्रं एकं निष्षाड् अभि इत्।"—इस एक एक इंद्रियके ऊपर मैं अपने विलक्षण सामर्थ्यके कारण अवश्य विजय प्राप्त करूंगा। मैं इंद्रियोंसे परास्त नहीं हो सकता। एक एक इंद्रिय चाहे जितना प्रयत्न करे उससे कभी मैं पराजित नहीं हो सकता। मैं इंद्रियोंको संयमद्वारा अपने आधीन ही रखूँगा। मैं कमजोर नहीं हूँ। मैं (निः-षाड्) सबसे अधिक बलवान् हूँ।

(८) " अभि द्वा किमु त्रयः करंति।"— हे इंद्रियो ! आप दो अथवा तीन किंवा इससे भी अधिक मिल जाओगी, तो भी आपसे मेरी क्या हानि होगी? मेरी शक्ति आपके अंदर जाकर आपके द्वारा कार्य कर रही है। इसलिये मैं आप सबका नियंता हूं। आप मेरा पराभव नहीं कर सकते। आप सबका दमन करके आपको मैं ही स्वाधीन रखूँगा। आप सबको मैं ही आधीन रख सकता हूँ। क्यों कि मैं आत्मा अर्थात् इंद्र हूँ। इस लिये आप सबको मेरे आधीन रह कर ही कार्य करना होगा।

(९) "पर्षान् खले न भूरि प्रति हन्मि।"— जिस प्रकार धानको चक्कीमें बहुत प्रकारसे पीसा जाता है, अथवा घासके

गड्डोंको पत्थरोंपर अनेक वार मारने पर भी पत्थरका कुछ नहीं बिगडता, उसी प्रकार इन शत्रुओंको मैं पीस डालूँगा अथवा उनके हमलोंसे मेरा किसी प्रकार भी नुकसान नहीं होगा। मैं स्थिर और दृढ हूँ और ये मेरे सब शत्रु सबके सब कच्चे और कमजोर हैं। इस लिये ये मेरेद्वारा पीसे जांयगे,मेरे शत्रुओंका मैं पराभव निश्चयसे करूँगा।

(१०) "अन्-इद्राः शत्रवः मा निंदंति किं।"— क्या आत्मज्ञान न रखनेवाले मेरे शत्रु मेरी निंदा कर रहे हैं? करने दें। उनकी निंदाकी मैं पर्वाह नहीं करता। उनकी निंदासे मैं अपने मार्गको कभी नहीं छोडूंगा। मैं उनकी निंदा नहीं करूंगा। क्यों कि निंदा करनेसे मेरी वाणीमें अशुभ शब्द आ जांयगे और मेरी वक्तृत्वशक्ति मलिन होगी। इसलिये निंदाका स्वभाव शत्रुओंके पासही रहे। मैं कभी निंदा करनेवाला नहीं बनूंगा। जो निंदा करना चाहते हैं, बेशक करें। मैं उनके बुरे शब्दोंके कारण अपने सत्य मार्गसे कभी नहीं हटूंगा। यही मेरा पक्का दृढ निश्चय है। यही मेरी पूर्ण प्रतिज्ञा है। मैं कभी अपनी प्रतिज्ञासे पीछे नहीं हटूंगा। क्यों कि मैं इंद्र हूँ, मेरी शक्तियां सर्वत्र फैल रहीं हैं। सब शरीर भर मेरी शक्तियां कार्य कर रहीं हैं।

वेदके उत्साहपूर्ण मंत्र इस प्रकारकी भाषा बोल रहे हैं। यही विचार सबको मनमें सदा धारण करने उचित हैं। मन कल्पना करता ही है। प्रथम उसको सम्यक् कल्पना (सं-कल्प) करनेका अभ्यास सराइए। जब उत्तम कल्पना वह करने लगे तब शुभ संकल्प (शिव-संकल्प) केवल श्रेष्ठ उत्तम ही विचार करनेका अभ्यास कीजिये। बुरे विचारोंका ख्याल तक मनमें न आजाय ऐसी अवस्था उत्पन्न कीजिए। "शुभ विचार, शुभ उच्चार और शुभ आचार" ये तीन बातें हैं जो श्रेष्ठताके मार्गक्रमणमें सहायक हैं।

कदाचित् प्रिय पाठकोंके मनमें संदेह होगा कि ऐसा मानने और कहनेसे क्या हो सकता है? कल्पनामात्रसे क्या होगा? ऐसी शंका करनेवालोंसे इतनी ही नम्र प्रार्थना है, कि केवल एक महीनेभर उक्त वैदिक विचार ही मनमें रखिए, अशुभ भावनाओंको एक मासतक दूर कीजिए। मुझे निश्चय है कि एक मासके पश्चात् आप उक्त शंका करेंगे ही नहीं। देखिए, अनुभव सबसे श्रेष्ठ प्रमाण है।

दूसरेकी निंदा करनेसे हानि क्यों होती है? इस प्रश्नका उत्तर यहां इतने विवरणसे पाठकोंको मिला ही होगा। "वह मनुष्य धोखा देता है, वह व्यभिचारी है, वह असत्य भाषण करता है" इत्यादि प्रकार प्रायः लोग दूसरेकी निंदा करते हैं। ऐसी निन्दा करनेसे क्या होता है, इसका विचार पाठकोंको करना चाहिये। इस तरहकी निन्दा करनेसे मनुष्यके मनमें उक्त दुर्गुणोंके संस्कार होते जाते हैं। पूर्वोक्त तीन वाक्योंमें 'धोखा देना, व्यभिचार और असत्य भाषण करना' ये तीन कुकल्पनाएं हैं। पूर्वोक्त निंदा करनेसे जिसकी निंदा की जाती है उसका कुछ भी बिगडता नहीं, परंतु जो निंदा करता है उसमें उन वाक्योंके संस्कार जमते जाते हैं। और यदि यही निंदा वारंवार की जायगी तो वे कुसंस्कार अधिकाधिक दृढ बनते जायंगे।

ऐसी कल्पना कीजिये, एक मनुष्य दूसरेकी निंदा नहीं करता, परंतु अपनीहि निंदा करता है। कई लोग प्रार्थना करनेके समय कहते हैं कि "हे ईश्वर! मैं तुच्छ हूं, मलिन हूं, दीन हूं, दुष्ट हूं, कुकर्मी हूं, पापी हूं, अधम हूं, दुराचारी हूं।" इत्यादि प्रकार अपने अंदर जो दोष होंगे या न होंगे उनकी गिनती करते जाते हैं। अपने अन्दर जो दोष हैं उनका उच्चारण करना और उनको

दूर करनेका यत्न करना चाहिये ऐसा इनका मत रहता है। कई लोगोंको तो प्रभुकी प्रार्थना करनेके समय अपनी नम्रता दिखाने का व्यसन ही हुआ करता है और उस व्यसनके मदमें आकर वे अपने योग्य और अयोग्य दोष बोलनेका यत्न करते हैं। वे मनसे समझते हैं कि ऐसा करनेसे अपनी भी उन्नति होती है और सुननेवालोंकी भी उन्नति होती है। परंतु वे बडी भारी गलती करते हैं।

पूर्वोक्त प्रकार अपने दोष बतानेके लिये जो वाक्य उच्चारे जाते हैं उनका भी भाव वैसा ही अपने मनमें स्थिर होता जाता है। अपनी तुच्छता, मलिनता, दोषयुक्तता आदिका ध्यान किया जाय तो भी वही परिणाम होगा,जैसा दूसरेकी तुच्छता, मलिता, दोषमयताका ध्यान करनेसे होगा। मनुष्य जिसका वारंवार ध्यान करेगा वैसा बनेगा। यदि वह तुच्छताका ही विचार करता रहेगा तो वह निःसन्देह तुच्छ बनेगा। ऐसी प्रार्थनासे यही घातपात हो रहा है। वे बिचारे उत्तम भावसे आत्मदोषोंका उच्चारण करते हैं और मानते हैं कि यह उन्नतिका मार्ग है। परंतु फंसते जाते हैं। उनपर उक्त हीन कल्पनाके संस्कार होते जाते हैं और उनकी अधिक मलिनता होती जाती है। न समझते हुए उनसे यह दोष होता रहता है।

हीनताके उच्चारणकी प्रणाली वैदिक नहीं है। कोई मंत्र आप लीजिये, उसमें उच्च विचार ही आपको दिखाई देंगे। क्वचित् कोई मंत्र ऐसा होगा कि जिसमें दुष्ट गुणोंका वर्णन हुआ हो। परंतु देवताके श्रेष्ठ गुणही सर्वत्र वर्णन किये हैं। श्रेष्ठ सद्गुणोंका महासागर परमेश्वर है, उसीके गुणोंका मनन करना वैदिक धर्मका अनुष्ठानका भाग है। ईश्वरस्तुति, ईश्वरोपासना आदिमें हीन विचार आवेंगे ही कहांसे? ईश्वरस्तुतिका अर्थ

ही श्रेष्ठ सद्गुणोंकी स्तुति है। श्रेष्ठ सद्गुण वारंवार कहनेसे उनका शुभ संस्कार अपने मनपर जमा होता है और वे सद्गुण अपने अंदर बढते हैं। यही मानवोंकी उन्नति करनेका एक मात्र साधन है।

अपनी हीनता उच्चारण करनेकी कुप्रथा बौद्धोंद्वारा प्रचलित हुई। उनके पास श्रेष्ठ सद्गुणोंका निधान परमेश्वर था ही नहीं। उनके पास तो मनुष्य ही कुसंस्कारोंवाले थे। उनको देखनेसे उनके हाथ दुष्ट भावही आनेवाले थे सो आगये और अतः वे "मैं हीन, मैं दीन, मैं पामर" इत्यादि बातें बोलने लगे। यह प्रथा बुद्धधर्मद्वारा उत्पन्न हो गयी और बढी और इसीका परिणाम वैदिकधर्मपर भी हुआ और हिंदू धर्ममें इसीकी नकल की गई। बुद्धधर्म में ईश्वरकी कल्पना नहीं है, इसलिये उनके मनन के लिये श्रेष्ठ सद्गुणोंका निधान कहां है? ईश्वर की अनुपस्थितिमें वे किसका ध्यान करें? और श्रेष्ठ कल्पना कहांसे लावें? उनका जगत् दुःखमय है, नश्वर है, दोषोंसे परिपूर्ण है। यही उनके सम्मुख प्रत्यक्ष है। यही बुद्धधर्मी लोग देखते हैं और उसीका मनन करते हैं। इस लिये उनकी उपासनामें दुःख, दोष और पापका उच्चारण प्रमुखतया है।

वैसा देखा जाय तो बुद्धधर्ममंदिर जगत्के दुःख, दोष और पापोंपर रचा गया है। परंतु वेदकी बात वैसी नहीं है। इसकी बुनियाद आनंदकन्द परमात्मापर है, जो दुःखदोषविकारोंसे पृथक् है, जो नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है। जो आनंदकंद है, स्वानंदसाम्राज्य जिसका निज सहजसिद्ध है। जो शुद्ध श्रेष्ठ परात्पर और दोषरहित है। भला इस परमेश्वरके उपासक मलिनता, दुष्टता और दोषमयताका मनन किस प्रकार कर

सकते हैं ? वैदिक धर्मी अपनी स्तुति प्रार्थना उपासना वेदमंत्रों द्वारा करते हैं। वेदमंत्रोंमें मलिनताका लेश भी नहीं। परमेश्वरके शुभ गुणोंका आप जितना मनन करेंगे उतना मन शुद्ध बुद्ध और मुक्त बनता जायगा। उसमें हीन विचारोंका लेश भी आनेका संभव नहीं है। जिस समय उपासनासे ईश्वरको दूर किया जायगा, तभी तो हीन विचार, हीन उच्चार और हीन आचारोंका संभव हो सकता है। यहां पाठकोंके मनमें वैदिक और अवैदिक धर्मोंकी उपासनाका भेद आगया होगा।

वेद वारंवार कहता है कि 'कानोंसे अच्छे शब्द सुनो, आंखोंसे अच्छे विचार देखो और पवित्र आचरण करो।' इसका हेतु ही यह है कि उपासकका वायुमंडल पवित्र बने, शुभ बने और उपासक पुनीत होता जाय। मानवी उन्नतिके लिये इस तरहकी पवित्रताकी अत्यंत आवश्यकता है। इस लिये पाठक अवैदिक रीतिकी प्रार्थना करके अपने आपको गिरानेका अभ्यास न करें, परंतु वैदिक प्रार्थनाओं द्वारा अपने आपको शुद्ध और पवित्र बनावें और शुद्ध बुद्ध मुक्त बननेके अधिकारी बनें।

मनकी विलक्षण शक्ति ।

वेदमें मनकी अपूर्व और विलक्षण शक्तिका वर्णन है । देखिए-

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ॥
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

यजु. ३४।१

"जो (दैवं) दिव्य शक्तिसे युक्त मन जागृत अवस्थामें दूर दूर जाता है, और निश्चयसे वह (सुप्तस्य) सोते हुए भी वैसा ही दूर चला जाता है, यह दूर जानेवाला, ज्योतियोंका एकमात्र प्रकाशक मेरा मन शुभ विचार करनेवाला होवे।" इस यजुर्वेदके मंत्रमें मनकी शक्तियाँ वर्णित हैं । इस प्रकार चारों वेदोंमें मनकी शक्तियोंका वर्णन करनेवाले अनेक मंत्र हैं । इन मंत्रोंका मनन करनेसे तथा मंत्रके विधानोंकी सत्यता प्रत्यक्ष अनुभवके व्यवहारोंमें देखनेसे वेदके उपदेशका महत्त्व व्यक्त हो सकता है । उक्त मंत्रमें मनके निम्न लिखित गुण लिखे हैं—

(१) जाग्रतः दूरं उदैति ।...मन जागृत अवस्थामें दूर दूरके स्थानोंपर चला जाता है ।

(२) सुप्तस्य तथा एव एति ।...सोनेवालेका मनभी उसी प्रकार दूर दूरके स्थानोंपर चला जाता है ।

(३) दूरंगमं ।...दूर दूरके स्थानपर चला जाना, यह मनका स्वाभाविक धर्मही है ।

(४) ज्योतिषां ज्योतिः ।...तेजोंका तेज मन है अर्थात् मन तैजस् पदार्थ है । विद्युत् तत्त्वका मन बना है ।

(५) एकं ।...मन एक है ।

अब इन बातोंका अनुभवके प्रमाणोंसे निश्चय करना है। 'जागृत अवस्थामें मन दूरके स्थानोंमें चला जाता है' यह मंत्रका प्रथम विधान है। कई विद्वान् व्याख्याता कहते हैं कि मन एक क्षणमें सूर्यका विचार करता है तो दूसरे क्षणमें घरका विचार करता है, इस प्रकार यह मन क्षणमें सूर्यलोकसे पृथ्वीपर आता है। परंतु वेदके उक्त वचनका यह तात्पर्य नहीं है। जागृत अवस्थामें मन दूर जाता है न कि दूरके पदार्थका विचार करता है। केवल यहांसे सूर्यका विचार मनमें आगया, तो हमारा मन वहां गया था, ऐसा नहीं सिद्ध हो सकता। उक्त मंत्रमें 'दूरं एति' 'दूरंगमं' ये शब्द स्पष्ट कह रहे हैं कि जागृत मनुष्यका तथा सुप्त मनुष्यका मन एक स्थानसे निकलकर दूसरे स्थानमें जाता है और वहाँ कार्य करता है। हमारे जैसे साधारण मनुष्योंका ऐसा अनुभव नहीं कि जागृत अवस्थामें हमारा मन दूसरे स्थानपर गया है और वहाँका ज्ञान उसको प्राप्त हुआ है।

जिसका मन जागृत अवस्थामें दूरके स्थानपर जा सकता है, उसको पता लग सकता है कि दूरके बंद कमरेके अंदर बैठा हुआ मनुष्य क्या कार्य कर रहा है। हमारा मन सुप्त अवस्थामें तथा स्वप्नमें दूरके स्थानपर चला जा सकता है, परंतु जागृतिमें दूरके स्थानपर जानेका उनको अभ्यास ही नहीं है। ध्यानयोगके बहुत अभ्याससे इस प्रकार अपने मनको दूरके स्थानपर भेजा जा सकता है और वहाँका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, ऐसा योगके ग्रंथोंमें कहा है। परंतु इस प्रकार करनेवाले सत्पुरुष इस समयतक मैंने नहीं देखे।

मनकी गतिके लिये स्थानका प्रतिबंध नहीं है। एक स्थानपर बैठा हुआ मनुष्य, न केवल उस ग्रामके परंतु अत्यंत दूर देशके मनुष्यका वृत्तांत जान सकता है। जिसका मन इस प्रकार जागृत

अवस्थामें दूर भेजा जा सकता है। यह बहुत मिहेनतका तथा अत्यंत दृढ अभ्यासका साधन होनेसे अत्यंत कष्टसे सिद्ध होता है। वैदिक धर्मकी यह एक मानसिक सिद्धि है। जो वैदिक धर्मका झंडा दुनियाभरमें फहराना चाहते हैं उन्हें उचित है कि वे अपने मनकी शक्तियोंका थोडासा अनुभव प्रथम ले लें। तत्पश्चात् दूसरोंको मनानेका प्रयत्न करें। प्रथम स्वयं मानना और पश्चात् दूसरोंको मनवाना होता है। जगत् भरमें वैदिक धर्मका प्रकाश वही फैला सकता है कि जो आद्योपांत वेदको जान सकता है। वेदको स्वयं न जानते हुए ही आजकल 'वेद-प्रचार' चल रहा है, इसी लिये प्रतिदिन अश्रद्धा बढ रही है। तात्पर्य केवल युक्तियोंसे धर्मकी श्रद्धा नहीं बढ सकती और न वैदिक धर्मका तेज फैल सकता है। योगसाधनसे प्रत्यक्ष अनुभव देखनेकी बडी भारी आवश्यकता है। जागृतिमें मनको दूसरे स्थानपर ले जानेकी शक्ति प्राप्त करनेसे ही उक्त मंत्रका मतलब समझमें आ सकता है। केवल शब्दोंके अर्थज्ञानसे भी क्या लाभ हो सकता है? 'जागृत अवस्थामें मन दूर जाता है' यह उस वचनका तात्पर्य है। इस शब्दार्थको जाननेसे किसको कौनसा लाभ हो गया? जबतक हम अपने मनको दूसरे स्थानपर नहीं भेज सकते, तबतक उक्त शब्दोंका अर्थ समझनेसेभी कोई तात्पर्य नहीं निकल सकता। प्राचीन ऋषि-मुनियोंको अपना मन दूसरे स्थानपर भेजने, वहाँका ज्ञान प्राप्त करने तथा वहाँ कार्य करनेकी शक्ति थी। महाभारतादि ग्रंथोंमें कई कथाएं आती हैं, कि किसीने ध्यान लगाकर दूसरे स्थानके मनुष्यका वृत्तांत जान लिया! उस समयमें भी यह विद्या सार्वत्रिक नहीं थी। बहुत थोडे महात्मा इस विद्यामें प्रवीण थे। इस विषयमें शतपथका निम्न वचन विचारपूर्वक देखने योग्य है—

स यदि वृष्टिकामः स्यात्। यदीष्ट्या वा यजेत दर्शपूर्ण-मासयोर्वैव ब्रूयाद्वृष्टिकामो वा अस्मीति। तन्नोऽध्वर्युं ब्रूया-त्पुरोवातं च विद्युतं च मनसा ध्यायेति। अभ्राणि मनसा ध्यायेति अग्नीध्रं। स्तनयित्नुं च वर्षं च मनसा ध्यायेति होतारं। सर्वाण्येतानि मनसा ध्यायेति ब्रह्माणं। वर्षति हैव तत्र यत्रैवमृत्विजः संविदानाः यज्ञेन चरन्ति॥

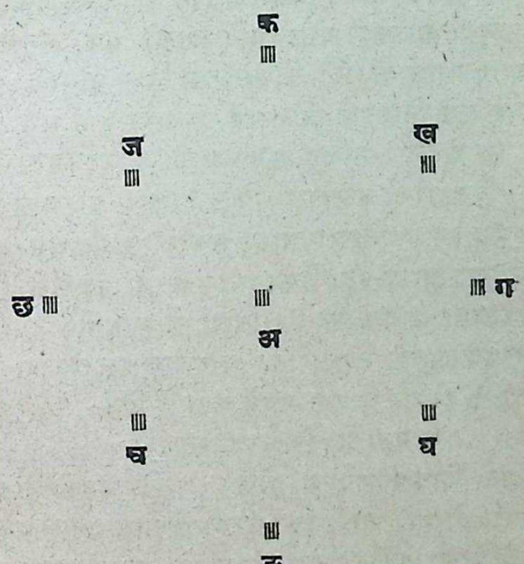
शतपथ १।५।२।१९

"यदि यजमान वृष्टिकी इच्छा करता हो तो वह......कहे कि मैं वृष्टिकी इच्छा करता हूं और अध्वर्युको कहे कि वह पूर्वका वायु और विद्युत् का मनसे ध्यान करे। अग्निध्रको कहे कि वह बादलोंका ध्यान करे। होताको कहे कि वह इन मेघगर्जना और वृष्टिका मनसे ध्यान करे। और ब्रह्माको कहे कि वह इन सबका मिलकर ध्यान करे। निश्चयसे वहाँ वृष्टि होती है कि जहाँ इस प्रकार (मानस शक्तिसे कार्य करनेवाले) ऋत्विज मिलकर यज्ञ करते हैं।"

मनके दूर जाकर कार्य करनेकी शक्तिकी यह एक सिद्धि है। ऋत्विज इस प्रकार ध्यानद्वारा अपने मनको बाहिर जगत्में भेजते थे और जहां बादल होंगे वहाँसे उनको खींचकर लाते थे और वृष्टि कराते थे। जागृत अवस्थामें मन बाहिर जाता है और वहाँ कार्य करता है इसका यह ग्रंथोक्त प्रमाण है। शतपथ-ब्राह्मणके लेखक आचार्य याज्ञवल्क्य लिखते हैं कि "जहां ऐसे ऋत्विज होंगे वहाँ अवश्य वृष्टि होगी।" इसका दूसरा तात्पर्य यह है कि जहां ऐसे ऋत्विज होंगे वहांही अन्य यज्ञोंकी सिद्धियाँ होंगी। पुत्रकामेष्टि आदि यज्ञ हैं कि जिनके करनेसे अपने मनकी इच्छानुरूप पुत्र उत्पन्न किया जा सकता है, उनकी सिद्धिभी ऋत्विजोंकी मानसिक योग्यतापर निर्भर है। इससे पता लग

सकता है कि मानसिक योग्यताके विना किया हुआ कर्म फल नहीं दे सकता।

जागृत अवस्थामें मनको दूर भेजने और वहां कार्य करनेकी शक्ति आजकल प्रायः सुप्तही है। और उसको पुनः कार्यक्षम करनेका कोई प्रयत्न नहीं करते। जागृत अवस्थामें एककी मानसिक शक्ति दूसरेके मनके ऊपर परिणाम कर सकती है। इसका अनुभव थोडेसे परिश्रमसे पाठक भी देख सकते हैं। आठ दस मनुष्य यदि एक विचारके-और विशेषतः सुविचारी-हों तो वे एकांत और शांत स्थानपर निम्न प्रकार बैठें—



'अ' स्थानपर ऐसा मनुष्य बैठे कि जो अपना मन निर्विचार, स्थिर और शांत रख सके तथा 'क ख' आदि स्थानपर ऐसे मनुष्य बैठें कि जो अपने मनमें सब मिलकर एकही विचार प्रबल कर सकते हैं। 'क ख' आदि स्थानपर बैठनेवाले मनुष्य, 'अ' को विदित न करते हुए, किसी प्रसिद्ध पदार्थकी कल्पना मनमें धारण करें, और उक्त प्रकार बैठनेके पश्चात् वह ही कल्पना अपने मनमें प्रबलतापूर्वक जागृत करें और अपनी मानसिक शक्तिसे वह कल्पना 'अ' के मनमें डालनेका पराकाष्ठाका यत्न करें। यदि 'अ' का मन निर्विचार और शांत रहा, तथा 'क, ख' आदि मनुष्योंमें केवल वही एक विचार स्थिर और प्रबल रहा, तो विना कहे 'अ' के मनमें वही कल्पना आती है कि जो 'क, ख' आदि मनुष्योंके मनमें थी। यदि किसी एक मनुष्यमें विपरीत भावना उत्पन्न हो गयी तो सिद्धिमें विघ्न होता है। इसलिये प्रबलतापूर्वक दृढ निश्चयसे और एक विचारसे यह अनुभव लेना उचित है। इसके लिये अधिक परिश्रमकी आवश्यकताभी नहीं है। मनके विचारोंका दूसरेपर किस प्रकार परिणाम होता है इसका अनुभव इस रीतिसे प्राप्त हो सकता है। प्रथम आरंभमें प्रसिद्ध फल फूल आदि पदार्थोंका ध्यान करना, जिससे 'अ' के मनमें झट कल्पना आनेके लिये सुविधा हो सकेगी।

एक मनुष्यके मनके विचारोंका परिणाम इस प्रकार दूसरेके मनपर होता है, इसीलिये उक्त मंत्रमें कहा है कि—

मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।

'मेरा मन शिवसंकल्पमय होवे।' यदि मनके अंदर बुरे विचार उत्पन्न हो गये, तो उनका बुरा परिणाम अन्य मनुष्योंपर हो सकता है, तथा यदि विचार अच्छे हो गये तो उनका परिणाम भी अच्छा हो सकता है। यहाँ स्मरण रहे कि हमारे हरएक

विचार का बुरा भला परिणाम दूसरोंपर हो रहा है। परिणाम किये विना कोई विचार रहता नहीं। इसलिये आवश्यक है कि हम सब सदा शुभ विचार ही करें और कभी बुरे विचारको अपने मनमें स्थान न दें। अब सुप्त अवस्थामें हमारा मन दूर दूरके स्थानोंमें चला जाता है, ऐसा जो उक्त मंत्रमें कहा है, उसका विचार करना है। स्वप्नमें भी इसी प्रकार जाता है। जिस प्रकार पतंग या गुड्डीके खेलमें बारिक धागेके साथ पतंगको आकाशमें वायुकी गतिकी सहायतासे भेज देते हैं उसी प्रकार योगी जन अपने मनको इष्ट स्थानपर भेजते हैं, और वहाँका कार्य करनेपर वापस खेंचते हैं। परंतु जिनको मन बाहिर भेजनेकी शक्ति नहीं है, उनका अर्थात् साधारण मनुष्योंका मन स्वप्नमें जिधर चाहे उधर भटकता है और थक जानेपर स्वयं वापस आता है। इस विषयमें निम्न प्रकारका एक अनुभव विचार करने योग्य है—

कोल्हापुरमें म. गोलविदेकर नामक एक घराना है। शक१८५६ (ई. स. १८९४) में उस घरानेमें चार भाई और एक माता इतने कुल मनुष्य थे। भाईयोंके क्रमपूर्वक नाम पं० प्रभाकरपंत, वासुदेव, दत्तोपंत और नारायणराव हैं, और माताका नाम श्रीमती रुक्मिणीबाई है। इनमें सबसे ज्येष्ठ भ्राता पं. प्रभाकरपंत कोल्हापुरसे चार पाँच मील दूर अपने केर्ली ग्राममें घरवाडीकी व्यवस्था करता हुआ रहता था। और शेष तीन भाई अपनी वृद्ध माताजीके साथ कोल्हापुर नगरमें रहा करते थे। उक्त वर्षके वैशाख शुक्ल द्वितीयाके दिन रात्रिके तीन बजेके समय उक्त माताजीको स्वप्न (ख्वाब) आया, जिसमें उन्होंने देखा कि अपने ज्येष्ठ पुत्रके मकानमें दीवार तोड कर एक चोर, बैरागीके वेशमें घुस गया है, अपना पुत्र सोया पडा है और उस निद्रित पुत्रके सिरपर उस चोरने अपने लोहेके चिमटेका आघात किया है,

जिससे पुत्र मर चुका है। यह स्वप्न देखते ही वह रोती हुई उठी और उसने स्वप्नका वृत्तांत सबको बता दिया। सबने कहा कि स्वप्नही है, उसमें विचार क्या करना है!

इसके पश्चात् दो घंटोंके अंदर उस कोली ग्रामसे पं. प्रभाकरपंतका नौकर आ गया और उसने वही बात ठीक उसी प्रकार कही! तब जाकर निश्चय हुआ कि स्वप्नकी बात बिलकुल ठीक थी।

(१) दीवार को खोदकर चोरका अंदर घुसना,
(२) चोरका बैरागी होना,
(३) चिमटेके आघातसे पुत्रका वध होना,
(४) पं० प्रभाकरजीका वध सोते समय बैरागीके चिमटेसे सिरपर किये आघातसे होना,

इत्यादि बातें जैसी स्वप्नसे प्रथम ज्ञात हो गयी थीं सबकी सब जैसी की वैसीही सत्य सिद्ध हो गई। इससे पता लग सकता है कि मनुष्यका मन स्वप्नमें दूर दूरके स्थानमें (दूरं गमं) चले जाता है और वहांका सब कुछ हाल देखता है। उक्त माताजीका मन इसी प्रकार पुत्रके ग्राममें चला गया था और उसने पुत्रका वध प्रत्यक्ष देखा था, अन्यथा सब बातोंका पता लगना असंभव था। उक्त कथा प्रत्यक्ष देखनेके कारण निःसंदेह सत्य है। क्यों कि इन बातोंका विचार करनेके लिये जो बात जैसी हो गयी थी वैसी ही कहनी चाहिए। अन्यथा विचार होना ही असंभव है। कल्पित कथाओंका किसी प्रकार भी यहाँ उपयोग नहीं है। इसलिये मैं कभी कल्पित कथा प्रस्तुत नहीं करता।

इस प्रकार वेदमंत्रका दूसरा कथन जो (१) 'तदु सुप्तस्य तथैवैति' (२) 'दूरंगमं' इन शब्दोंद्वारा व्यक्त हुआ था, सत्य है ऐसा सिद्ध हुआ है। (३) 'जाग्रतो दूरं उदैति।' जागते हुए

दूरके स्थानपर चले जाता है, इस कथनकी सत्यता उक्त शतपथके वचनसे, अर्थात् वृष्टिकी सिद्धिसे, सिद्ध हो सकती है, अथवा जो प्रयोग पूर्व स्थानपर दिया है उससेभी किंचिन्मात्र सिद्धि होना संभव है। यदि किसी पाठकका कोई अनुभव हो कि जिससे जागृतिमें भी मनके दूर जानेकी सिद्धि हो सकती है, तो उस अनुभवको वह प्रसिद्ध करनेकी कृपा करे। कोई कल्पित बात नहीं चाहिए, तथा सब अनुभव तर्कदृष्टिसे परीक्षा करके सिद्ध होनेवाला चाहिए।

मनकी दिव्य शक्तिका अनुभव प्राप्त होनेसे ही अपने आत्मिक बलकी कल्पना हो सकती है। इसलिये सबसे पूर्व मनकी विविध शक्तियोंका अनुभव लेना चाहिए। धार्मिक पुरुषोंको तैयार होना चाहिए और इस दिशासे प्रयत्न करना चाहिए।

मनका वेग।

सब कहते हैं कि 'मन' बडा ही चंचल है और मन अत्यंत वेगवान् है; परंतु मनका वेग कितना है और वह एक निमेषमें कितनी दूर जा सकता है, इसका विचार इस समयतक किसीने नहीं किया है। बैल, घोडा, रेलगाडी, चंद्र, सूर्य, आदि वेगवान् पदार्थ हैं। वायु, प्रकाश और विद्युत्का भी वेग अत्यंत है, इन सब पदार्थोंके वेग प्रतिक्षणमें इतने हैं, ऐसा सिद्ध हो चुका है। प्रत्यक्ष दृश्य पदार्थोंसे अदृश्य पदार्थोंतक सबके वेग इस समय विदित हैं, परंतु जिस मनसे उक्त पदार्थोंके वेग नापे जाते हैं, उस मनके वेगका अभी तक किसीको पताही नहीं है।

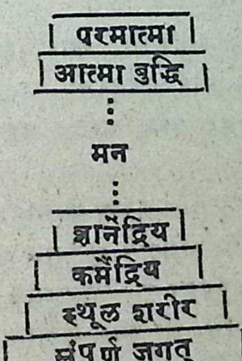
मनके अंदर वेग है, और वह एक स्थानसे दूसरे स्थान तक जा सकता है, इसका भी बहुत थोडे लोगोंको ज्ञान है। वेग दो प्रकारका होता है, एक अपने ही अंदरकी गति और दूसरी स्थानांतरमें जानेकी गति। मनकी चंचलताका जो मनुष्य अनुभव करते हैं, वे उसकी आंतरिक गतिको मानते ही हैं। चंचलताका यही अर्थ है कि उसके घटक अवयवोंमें बडी विलक्षण गति है। यह आंतरिक गति इतनी अधिक है कि इस गतिके कारण मनको स्थिर करना बडा ही मुश्किल हो गया है। साधारण प्रयत्नसे मनकी स्थिरता होती ही नहीं। योगाभ्यास द्वारा प्रबल निश्चयपूर्वक बडे प्रयत्नोंके साथ इसका निरोध हो सकता है। पचीस घोडोंकी शक्तिसे चलनेवाली मोटार गाडीको सुगमतासे कोई पहलवान रोक सकता है, परंतु मनकी आंतरिक गतिका

निरोध करना बहुतही कठिन कार्य है।

यह विचार मनके आंतरिक वेगका हो गया। परंतु इसका दूसरा भी एक वेग है कि जो एक स्थानसे दूसरे स्थानतक जानेसे संबंध रखता है। मनके इस वेगके विषयमें कई विद्वान् संदेह करते हैं। इस लिये इस बातका यहाँ विचार करना है कि वेदमंत्रोंके कथनका क्या तात्पर्य प्रतीत होता है। आत्माका वेग वर्णन करते हुए वेद कहता है कि—

एकं मनसो जवीयः ॥ यजु. ४०।४

"आत्मा अथवा ब्रह्म मनसे वेगवान् है।" आत्माका वेग मनसे अधिक है, इस कथनसे यह बात सिद्ध होती है कि मनकी गति आत्मासे कम है। अर्थात् आत्मासे भिन्न अन्य सब पदार्थोंकी अपेक्षा मनका वेग अधिक है। हमारे पास निम्न पदार्थ हैं।—



इंद्रियोंकी शक्ति और गति सबके अनुभवमें हैं। उनसे मन वेगवान् है और उससे भी आत्मा वेगवान् है, यह उक्त वचनका तात्पर्य है। अर्थात् यद्यपि मनकी गति आत्मासे कम है, तथापि

अन्य सब पदार्थोंकी अपेक्षा उसकी गति अत्यंत अधिक है, इसमें कोई संदेह नहीं। क्या यह मनकी गति स्थानिक है अथवा स्थानांतरीय है? अर्थात् क्या यह मन अपने स्थानमें रहता हुआ चंचल रहता है अथवा एक स्थानसे दूसरे स्थानतक जाता है? यही बडा गहन प्रश्न है, जिसका विचार इस लेखमें करना है। मनके दूर जानेके विषयमें वेदमें निम्न मंत्र देखने योग्य हैं—

यत् ते यमं वैवस्वतं मनो जगाम दूरकम् ॥१॥
यत् ते दिवं यत् पृथिवीं मनो जगाम दूरकम् ॥२॥
यत् ते चतस्रः प्रदिशो मनो जगाम दूरकम् ॥
यत् ते समुद्रमर्णवं मनो जगाम दूरकम् ॥५॥
यत् ते पर्वतान् बृहतो मनो जगाम दूरकम् ॥९॥
यत् ते विश्वमिदं जगन्मनो जगाम दूरकम् ॥१०॥
यत् ते परः परावतो मनो जगाम दूरकम् ॥११॥

ऋग्वेद १०।५८

"जो मन द्युलोक, पृथिवी, चारों दिशाएं, समुद्र, बडे बडे पर्वत, सब जगत् और दूरदूरके स्थानोंमें चला जाता है," उसको वापस लानेका यत्न करो। यह उपदेश उक्त मंत्रमें है। इन मंत्रोंमें—

मनः दूरकं जगाम।

इन शब्दों द्वारा "न समझते हुए मन दूर गया था" यह भाव स्पष्ट रीतिसे व्यक्त हो रहा है। "जगाम" क्रिया अज्ञात गतिकी द्योतक है। प्रत्यक्ष गति, जो स्वयं देखी होती है, उसका उल्लेख "जगाम" क्रियासे नहीं हो सकता। मन जो भटकता है वह न समझते हुए ही भटकता है। आप उसको एकाग्र करनेका प्रयत्न करते रहिए, किस समय वह दूर भाग जायगा, कोई भी पता नहीं लगेगा। वह इतना चंचल है। उक्त मंत्रमें "दूरकं" शब्द

द्वारा एक स्थानसे दूसरे स्थानतक भाग जानेका मनका धर्म व्यक्त हो रहा है। तथा और मंत्र देखिए—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं, तदु सुप्तस्य तथैवेति ॥ दूरंगमं० ॥ १॥
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं ॥ ६ ॥ यजु० ३४

"जो मन जागृत अवस्थामें दूर जाता है, वैसाही सोनेपर भी दूर जाता है। इसका दूर जानेका स्वभाव ही है।...हृदयमें रहनेवाला यह मन अत्यंत वेगवान् है।" ये मंत्र मनकी सब शक्तियोंका वर्णन कर रहे हैं। परंतु सब मंत्र यहाँ नहीं लिये हैं। उसकी गतिके दर्शानेवाले जितने शब्द हैं, उनका ही यहां विचार करना है। इन मंत्रोंके विभाग निम्न प्रकार कीजिए, जिससे उनका तात्पर्य ठीक प्रकार ध्यानमें जायगा—

दैवं	दूरं गमं
जाग्रतः दूरं उदैति	सुप्तस्य तथैव दूरं एति
अजिरं	जविष्ठं
Agile	Quickest

उक्त मंत्रोंमें "अजिर" और "जविष्ठ" ये दो शब्द भिन्न गतिके वाचक हैं। "अजिर" शब्द अपने अंदरकी चंचलता बता रहा है और "जविष्ठ" शब्द अन्य स्थानमें जानेके स्वभावका वर्णन कर रहा है। "दैवं" शब्दमें भी गति अर्थ है क्योंकि "दिव्" धातुके अनेक अर्थोंमें गति भी एक अर्थ है। "अजिर" शब्दका अर्थ "वृद्धावस्थासे रहित" ऐसा करनेकी परिपाटी है, परंतु गत्यर्थक 'अज्' धातुसे वह शब्द बन सकता है, और इस प्रकार इसका 'गतिमान्' ऐसा अर्थ हो सकता है। वृद्धावस्थासे रहित यह अर्थ "अ-जर" शब्दका हो सकता है। "अजिर" शब्द 'अ-जर' शब्दसे भिन्न है, इस लिये इसका 'गतिमान्' यह अर्थ उचित दीखता है।

संस्कृत...अजिर
फ्रेंच...Agile (अजिल्)
लातिन...Agilis (अजिलिस्)

संस्कृतमें 'र ल' एकही समझे गये हैं, इस नियमानुसार 'अजिर, अजिल' एक ही हैं। यही गत्यर्थक शब्द लातिन आदि भाषामें गया है। इस निरुक्त-दृष्टिसे भी 'अजिर' का अर्थ 'गतिमान्' करना योग्य है, क्योंकि लातिन, फ्रेंच, अंग्रेजी भाषाके '(Agile) अजिल्' शब्दका अर्थ भी 'गतिमान्' ही है। अस्तु।

उक्त मंत्रमें 'अजिर' शब्द अपनी गति बता रहा है। और 'जविष्ठ' शब्द स्थानांतरमें जानेकी गति बता रहा है। ये दोनों गतियाँ ऋग्वेदके मंत्रमें "दूरकं जगाम" शब्दों द्वारा सामान्य रीतिसे व्यक्त हो रही हैं। तथा—

मनो जूतिः॥ यजु. २।१३

"मन वेगरूप ही है" ऐसा इस मंत्रमें कहा है। "जूति" का अर्थ "वेग" है। वेग ही मन है, अर्थात् मन अत्यंत वेगवाला है॥ निम्न मंत्रमें मनका वेग विशेष रीतिसे बताया है—

मनो-जवा अयमान आयसीमतरत्पुरम्। ऋ. ८।१००।८

"मनके वेगके समान दौडता हुआ (आयसीं पुरं) लोहेके कीलेमें पहुंच गया।" इस मंत्रमें 'मनके वेगके समान (अयमानः) दौडनेवाला' यह वर्णन स्पष्ट रूपमें मनका एक स्थानसे दूसरे स्थानमें जाना बता रहा है। यही मनकी "जूतिः" अर्थात् वेग है। यही बात निम्न मंत्रमें अधिक स्पष्ट हो गई है—

मनो न योऽध्वनः सद्य एति॥ ऋ० १।७१।९

"मनके समान जो (अध्वनः सद्यः एति) मार्गके पार तत्काल जाता है" यह मंत्र तो मनका अन्य स्थानमें जानेका भाव विशेष रूपमें बता रहा है। यह मार्गके पार ऐसे वेगसे जाता है कि

जैसा मन मार्गके परे जाता है। तथा और देखिए—

ध्रुवं ज्योतिर्निहितं दृशये कं
मनो जविष्ठं पतयत्स्वंतः ॥ ऋ. ६।९।५

"जो (ध्रुवं ज्योतिः) स्थिर तेज (कं) सुख देनेवाला (दृशये) देखनेके लिये हृदयमें रखा है वही मन है, वही (पतयत्सु) दौडनेवालोंके (अंतः) अंदर (जविष्ठं) वेगवान् है।"

हृदयमें जो मन है वह सब गतिमान् पदार्थोंमें अत्यंत गतिमान् है। इस प्रकार वेदमंत्रोंका कथन मनके विषयमें है, जिससे सिद्ध है कि मनकी अपने अंदरकी एक गति है, जिसको चंचलता कहते हैं। और उसकी दूसरी दूर देशमें जानेकी गति है, जिससे योगी एक स्थानमें बैठा हुआ दूसरे स्थानकी बात जान सकता है। साधारण मनुष्यके मनमें भी ये दोनों गतियाँ हैं, परंतु वह दूसरी गतिका उपयोग कर नहीं सकता, क्योंकि साधारण मनुष्यके स्वाधीन उसका मन नहीं रहता। बडे परिश्रमसे और योगके विविध प्रकारके प्रयत्नोंसे जब उसको वश किया जाता है, तब वह उक्त सब कार्य कर सकता है। किसी समय योगसाधनके विना भी मनकी उक्त शक्तिका अनुभव आ सकता है। साधारण मनुष्य भी जब अपने प्रेमी मनुष्यके संबंधमें विशेष प्रबल इच्छा करता है, तब उसकी मानसिक इच्छाका आघात दूर स्थानके मनुष्यके मनपर होता है। इस विषयमें एक प्रत्यक्ष देखा हुआ उदाहरण नीचे देता हूं—

वर्धा नगरकी अंग्रेजी पाठशालामें म० गोविंदराव वाबले (बी. ए., एल्. टी.) अध्यापकका कार्य कर रहे थे। और इनकी धर्मपत्नी श्रीमती चंद्राबाई, बालक कमल और बालिका लीलाके साथ, औंध (जि. सातारा) में अपनी माताके घर कुछ दिन

न थी, इस लिये मंगलवारके दिनतक उनको वहां ही उसी प्रकारकी उदासीनतामें रहना पडा।

मंगलवारके दिन प्रातःकालके समय एक और आश्चर्य हुआ। वह यह कि अपना पुत्र अपनेको अपने नामसे पुकार रहा है ऐसा तीन चार वार उन्होंने सुना। पुत्रका परिचित शब्द सुनकर उनको भास हुआ कि पुत्र आदि आ गये हैं। परंतु इधर उधर देखनेके पश्चात् विदित हुआ कि वह केवल भ्रम ही था।

इतना होनेपर भी म० गोविंदराव और उनके मित्र यही समझते थे कि ये सब चित्तकी भ्रांतिके प्रकार हैं। अंतमें बुधवारके दिन उन्होंनें वर्धासे औंधको तार दिया और पत्नीकी कुशलताका वृत्तांत पूछा। परंतु तारका जवाब न आया, जिससे दुःखित होकर वे वर्धासे चल पडे और औंध पहुँचे। तब उनको पता लगा कि धर्मपत्नी और प्रिय पुत्र इस लोकसे क्रमशः उसी रात और उसी दिनके समय चल बसे कि जिस समय उन्होंने स्वप्न देखा और जिस समय पुत्रके शब्द सुने।

इस लेखका लेखक संपादक जहां रहता था वहां ही यह वृत्तांत हुआ इसलिये उक्त सब बातें उसको पूर्ण रीतिसे विदित हैं। जब औंधका वृत्तांत और वर्धाका पतिका भ्रम साथ साथ मिलाया गया, तब विशेष ही आश्चर्य प्रतीत हुआ। उसका सारांश निम्न प्रकार है—

(१) पति और पत्नीमें करीब छः सौ मीलका अंदर था। पति और पत्निके मनमें परस्पर मिलनेकी आतुरता बहुत ही बढ गई थी।

(२) पत्नी और पुत्रकी बीमारीका कोई ज्ञान पतिको न था, परंतु पतिके मनमें यही विश्वास था, कि अब धर्मपत्नी शीघ्र ही आ जायगी और पुत्र आदि सब कुशल ही हैं। क्योंकि ऐसा ही

पत्र एक सप्ताह पूर्व पतिके हाथमें पहुंच गया था।

(३) पत्नीका बुखार जिस दिन और जिस समय बढ गया, उसी समय और उसी दिन पतिका मन उदासीनतासे व्याकुल होने लगा, जिस उदासीनताके लिये वहाँका कोई स्थानिक कारण न था। और यह उदासीनता उसी प्रमाणसे बढ गई कि जिस प्रमाणसे यहाँ पत्नीकी बीमारी बढने लगी। साथ साथ पुत्रका ज्वर भी प्रारंभ हुआ।

(४) जिस रात्रिमें पत्नीकी मृत्यु हो गई उसी रात्रिमें दो तीन घंटे पूर्व पतिको पूर्वोक्त स्वप्न हुआ।

(५) पुत्रकी मृत्यु भी ठीक उसी समय हुई कि जिस दिन और जिस समय पिताने पुत्रका आवाज तीन चार बार सुना था। इसमें सबसे आश्चर्य यह है कि मृत्युके पूर्व पुत्रने अपने पिताका नाम जोर जोरसे तीन चार बार लिया था और तत्पश्चात् ही उसकी मृत्यु हो गई थी।

(६) इस समयतक पतिको अपनी पत्नी और पुत्रकी मृत्युकी कोई खबर नहीं थी। परंतु उनका चित्त इतना शोकमय हो गया था कि, जैसा इनका मृत्यु साक्षात् देखनेसे हो सकता था। यहाँ आनेके पश्चात् ही पतिको उनकी मृत्युका ज्ञान हुआ था।

पूर्वोक्त कथनमें जो विचार करने योग्य बातें हैं, उनको ऊपर रखा है। प्रत्यक्ष देखनेके कारण इनके सत्य होनेमें कोई शंका ही नहीं है। यद्यपि हरएक बात विचार करने योग्य है, तथापि-

(१) स्वप्नकी बात और (२) पुत्रका शब्द सुननेकी बात विशेष विचार करने योग्य है। उनमें भी पुत्रका आवाज जैसा सुननेका वृत्तांत विशेष महत्त्व रखता है। क्योंकि मृत्युके पूर्व पुत्रने "काका, काका, काका" ये ही शब्द पुकारे थे और

पिताने भी ये ही शब्द सुने थे। यह लडका अपने पिताको "काका" नामसे ही पुकारा करता था और पितापुत्रका प्रेम विलक्षण दृढ था।

संभव है कि पिताके मनमें विलक्षण उदासीनता अपनी ही संशयवृत्तिसे उत्पन्न हो गई होगी; परंतु यह संभव मानना कठिन है, की जिस समय जिस दिन पुत्रने "काका" नामसे पिताको जितनी बार पुकारा हो, उसी दिन उसी समय और उतनी बार पिताके कानमें वे ही शब्द पडना, पिताकी ही मनकी कल्पना है। इस लिये इसमें कोई बात "मानसिक संदेश" की होना अधिक संभव है। स्वप्नके विषयका भी इसी बातसे संबंध प्रतीत होता है।

कई लोग कहेंगे कि स्वप्न भी कल्पनासे हो सकेगा। परंतु उक्त शब्दोंका सुनना तो जागृतिमें ही हुआ था। जागृत अवस्थामें शब्दका सुनना विशेष बातकी सिद्धि कर सकता है। कई भोले लोग कहते हैं कि मृत्युके समय स्त्रीका आत्मा भूत बनकर वहाँ पहुँचा था, परंतु विचार करनेसे भूतप्रेतकी कल्पना यहाँ सजती ही नहीं। क्योंकि भूत प्रेत तो शरीरका और सूक्ष्म देहका माना भी जा सकता है, परंतु कपडेलत्तोंका भूत मानना असंभव है। जिस समय जो कपडे मरनेवाली स्त्रीके शरीरपर थे, यदि वैसे ही कपडोंके साथ वसीही प्रकार दिखाई देता, तो भूतकी कल्पना संभव मानी जाती। परंतु वैसा नहीं हुआ। स्वप्न में जो पत्निकी मूर्ति नजर आगई वह हमेशाके कपडोंमें और हमेशाके जेवरोंके साथ साथ थी। इस लिये यहाँसे भूत वहाँ गया ऐसा नहीं माना जा सकता। पतिके मनमें जो स्त्रीविषयक चिंता और उदासीनता उत्पन्न हो गई थी, उसके कारण पतिकी स्त्रीविषयक मानसिक कल्पना ही स्वप्नमें प्रकट हो गई। स्वप्नकी

मूर्तिका यह स्पष्टीकरण हो सकता है, परंतु उदासीनताका कारण केवल काल्पनिक नहीं माना जा सकता। क्योंकी उसका संबंध पत्नीके ज्वरके समयके साथ स्पष्ट दिखाई देता है।

जब पत्नी ज्वरित हो गई और जब पतिके पास जानेका उनका मनोरथ सिद्ध होना असंभव हुआ, तथा जब उनको अपनी बीमारीका असली भयानक स्वरूप विदित हुआ, तब उनका मन मानसिक संदेश द्वारा पतिके मनको धक्का देने लगा। यही कारण है कि जिससे पतिका मन एकाएक उदासीन बन गया और अंततक पूर्ववत् उत्साहपूर्ण नहीं हुआ।

जहाँ प्रेमका संबंध होता है, जिनके हृदय परस्पर प्रेमभावसे मिले हुए होते हैं, उनमेंसे एक हृदय दुःखी अथवा सुखी हो जानेसे दूसरेके हृदयमें भी, बिना किसी दृश्य कारणके, वे ही सुख अथवा दुःखके भाव उत्पन्न होते हैं। यह मनका धर्म है। तथा इसके लिये स्थानकी दूरतासे कोई प्रतिबंध नहीं हो सकता। क्योंकि मन अत्यंत वेगवान् है। उसी क्षणमें जितना चाहे दूर जा सकता है।

पुत्रका आवाज सुननेके विषयमें इतना कहना आवश्यक है, कि यहाँसे छः सौ मील अंतरपर यहांकी आवाज पहुँची, यह संभव ही नहीं है। यह भी मानसिक संदेशका ही प्रकार है। पुत्रके मनकी प्रबल भावनाका परिणाम पिताके मनपर हुआ और उसके कारण उक्त शब्द सुननेका भ्रम हो गया। मनमें जो दृढ भावना हो जाती है, वह जैसी मूर्तिरूपमें आँखोंसे दिखाई देती है, उसी प्रकार शब्दरूपमें कानोंसे सुनाई देती है। इस लिये शब्दोंका स्थानांतर माननेकी यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है। मानसिक संदेशके मानसिक आघातोंका यह चमत्कार है।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंधकी कल्पना मनसे होती है, इस लिये जैसा मनमें रूपका भास हो सकता है, वैसा ही शब्दोंका श्रवण मनमें भी भासरूपसे हो सकता है। तथा अन्य विषयोंका भी भास हो सकता है। भास उसको कहते हैं कि जो विषयकी वास्तविक अनुपस्थिति होनेपर भी उसकी प्रतीति होती है। इसी नियमके अनुसार पूर्वोक्त कथनमें पुत्रके शब्दोंका भावरूप श्रवण उसके पिताको हो गया था। इसमें मुख्य बात मानसिक आघातकी है और शब्दश्रवण मानसिक आघातोंका ही परिणाम है।

कानसे शब्दोंका श्रवण होता है, परंतु मनका संबंध कर्ण इंद्रियके साथ न हुआ, तो बडेसे बडा भी शब्द सुनाई नहीं देता, इस बातका अनुभव हरएकको है। जब एक मित्र दूसरेको कई बार पुकारता है, जब वह बार बार पुकारनेपर भी नहीं सुनता, तब उस समय वह पुकारनेवाला दूसरेसे कहता है कि 'अरे! तेरा मन कहाँ गया है?' अर्थात् मनके संबंधसे श्रवण होता है इस बातको सब ही जानते हैं। जिस प्रकार बाहिरके शब्द कर्णेन्द्रियद्वारा मन ही सुनता है, तद्वत् ही मनमें उद्भूत होनेवाली शब्दोंकी अथवा अन्य विषयोंकी कल्पना, कानोंसे अथवा उस उस विषयके अन्य इंद्रियसे प्रत्यक्ष होनेका भास होता है। बाहिरसे धक्का आ जावे अथवा अंदरसे प्रेरणा हो जावे, दोनोंका परिणाम एक समान होता है। इतनी विलक्षण शक्ति मनमें है।

उक्त पतिको यदि योगसाधनादि द्वारा मनकी स्वाधीनताकी सिद्धि प्राप्त होती, तो स्त्रीके मनद्वारा प्रेरित मानसिक संदेश ठीक रूपमें देखने और जाननेकी संभवना होती। परंतु प्रेरणा भेजने और प्रेरणा लेनेवाले साधारण जन होनेसे केवल मनपर

उदासीनता ही रही और कारणका ज्ञान न हुआ।

अस्तु। इस प्रकारकी थोडीसी बातें इस पुस्तकके लेखकने देखी हैं। इस प्रकारकी दो चार कथाओंसे मनोविज्ञानके किसी सिद्धांतका निश्चयात्मक ज्ञान अथवा आविष्कार होना नहीं है। एक एक बातको सिद्ध करनेके लिये भिन्न भिन्न परिस्थितिके प्रत्यक्ष देखे उदाहरण सैकडोंकी संख्यामें एकत्रित करने चाहिएँ और इन कथाओंकी परीक्षा करनेवाले अंधविश्वासी नहीं होने चाहिएँ। तब कभी जाकर किसी सिद्धांतकी स्थिरता हो सकती है।

ऊपरकी कथासे जो अनुमान ऊपर लिखे हैं, उससे वे ठीक प्रकार अवश्य ही सिद्ध हो रहे हैं, यह मेरा बिलकुल आग्रह नहीं है। कदाचित् होंगे और कदाचित् न भी होंगे। जब इस प्रकारकी सैकडों बातें सैकडों प्रसंगोंमें देखीं जायँगीं तब कभी जाकर हम किसी परिणाम तक पहुँच सकेंगे। इस प्रकारकी एक कथा इसी पुस्तकके पूर्वलेखमें दी है, यह दूसरी कथा है। पाठकोंको भी उचित है कि वे जब कभी संभव हो तब इस प्रकारके कथाप्रसंगोंका ध्यान रखा करें और भोलेपनका विचार छोडकर चिकित्सक दृष्टिसे निरीक्षण और परीक्षण करके, उन प्रसंगोंकी प्रसिद्धि करें, जिससे कि किसी मनोविज्ञानकी बातका पता लगना संभव हो। यों ही मनःकल्पित कथाएँ नहीं चाहिएं। जो वास्तवमें जिस रूपमें हुई हैं उसको वैसा ही बताकर यदि उससे किसी सिद्धांतका पोषण हो सके, तो करनेका यत्न करना चाहिए। आशा है कि पाठक भी इस दृष्टिसे बातें देखकर विचारकी संगतिद्वारा सहायता करेंगे। यह कार्य किसी एकका नहीं है, परंतु सब वैदिक धर्मियोंका है। वेदके मंत्रोंका इसी प्रकार प्रत्यक्ष अनुभव देखा जा सकता है।

यदि इस समय हमारी गलती हो जायगी तो हमारे पीछेसे जो अच्छे मनुष्य आ रहे हैं, वे उसको ठीक करेंगे। हमारा अनुमान यदि गलत होगा, तो दूसरे ठीक अनुमान निकाल सकेंगे। परंतु इस मार्गसे कार्यका प्रारंभ होना चाहिए। इसी उद्देशसे ऊपर लिखी कथा और अपने अनुमान पाठकोंके सम्मुख रखे हैं। सिद्धि असिद्धिका किसी प्रकार आग्रह रखनेकी इच्छा ही नहीं है। आशा है कि पाठक भी यही निर्विकार दृष्टि धारण करके इसका विचार करेंगे।

वेदमें मनका "दूरं-गमं, जविष्ठं" आदि शब्दोंद्वारा वर्णन किया है। मन एक स्थानसे दूसरे स्थानको पहुंचता है, इस विषयमें वेदके कथन स्पष्ट हैं। योगके पुस्तकोंमें भी यह सिद्धि लिखी है कि एक स्थानपर बैठा योगी ध्यानद्वारा दूसरे स्थानकी बात जान सकता है। तथा मनके स्थानान्तरके लिये स्थानकी दूरताका कोई प्रतिबंध नहीं है। एकके मनकी शक्तिका दूसरेके ऊपर परिणाम होता है, मानसिक चिकित्साका यही मूल मंत्र है। जो मानसचिकित्सा वेद कह रहा है, उसको प्रत्यक्ष करनेके लिये वैदिक धर्मियोंके यत्न होने चाहिएँ। मानसचिकित्साका उपहास करना योग्य नहीं है, क्योंकि वेदमें यही मुख्य और श्रेष्ठ चिकित्सा कही है।

"जो देवताओंमें विद्युत् है, वही शरीरमें मन है।" यह बात केनोपनिषद् के अंतमें कही है। अन्य स्थानोंमें प्रायः चंद्रमाका मनके साथ संबंध बताया गया है। बहुत थोडे स्थानमें विद्युत्का मनसे संबंध बताया है। यह मुझे पता नहीं कि "विद्युत्" और "चंद्रमा" शब्द वैदिक वाङ्मयमें समानार्थक हैं वा नहीं। परंतु इन दोनोंका मनके साथ संबंध जोडा है, इस बातसे कुछ न कुछ इनका परस्पर संबंध माना गया है, ऐसा पता लगता है।

केनोपनिषद् के अनुसार मन विद्युत् तत्त्वका बना है। उपनिषदोंमें मनको वैद्युत् ही कहा है, इसका यही हेतु प्रतीत होता है। यदि मन वैद्युत् है तो विद्युत्के वेगके समान उसका वेग होना चाहिए। विद्युत्का वेग प्रतिक्षण सवा लाख मील समझा जाता है। यदि मन वैद्युत् है तो उसका भी यही वेग होना उचित है। यदि इसका वेग इतना बडा है और यह क्षणमें लाख मील दूर तक पहुंच सकता है, तो स्थानकी दूरी इसके लिये कुछ भी नहीं है।

पाठक इन बातोंका विचार करें और मनकी विलक्षण शक्ति जानकर उसका विकास करनेका यत्न करें।

स्वप्नका एक अनुभव ।

श्री० म० ख्यालीराम हीरालालजी गुप्त, नया बाजार, छावनी नीमचका लिखा हुआ ता. २५।६।२१ का पत्र प्राप्त हुआ, उसमें निम्न बातें लिखीं हैं—

" वैदिक धर्म " में " मनका वेग " लेख पढकर मैं आपको मेरा अनुभव लिखकर भेजता हूं।—

"(१) मैं ता० २७ फर्वरी स० १९२१ को गुरुकुल इंद्रप्रस्थमें मेरा इकलौता बालक (चि. वासुदेव ऊर्फ ब्र० भवभूति) प्रवेश कर आया था । तत्पश्चात् कई पत्र उनकी राजीखुशीके आते रहे। ता० १४ अप्रैल स० १९२१ का गुरुकुलसे लिखा हुआ पत्र मुझे ता. १६ अप्रैलको प्राप्त हुआ, जिसमें पुत्रकी राजीखुशीके समाचार थे।

"(२) ता. १७ अप्रैल स. १९२१ के दिन किसी विशेष कारणके बिना मेरा चित्त गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ जानेके लिये बहुत ही उत्सुक हुआ । परंतु मैं वहां न जा सका। दूसरे दिनसे मेरा चित्त बहुतही व्याकुल और उदास हुआ और साथ साथ शरीर भी बिगडता गया। भूख वगैरा मिट गई । प्रतिक्षण वहां पहुंचनेकी इच्छा बराबर प्रबल होती गई ।

"(३) ता० २० अप्रैल स० १९२१ की रात्रिके चौथे प्रहरमें अर्थात् ता. २१ के प्रातःकालमें अनुमान ५-५॥ बजेके मेरी स्त्री मेरे पिताजी, जो क्रमशः ६ और १८ वर्ष पूर्व मर चुके थे, स्वप्नमें

आकर कहते हैं कि- "घबराओ मत, होशियार रहो, अब सोचो कि यह क्या होता है।"

"(४) मुझे पहिले भी दो वर्ष पूर्व (स. १९१९ में) स्वप्न हुआ था, उस स्वप्नमें मेरे मृत पिताजीने आकर कहा कि "वासुदेव गुजर गया।" मैंने पूछा कि "कहां?" उत्तर मिला कि "गुरुकुलमें।" पिताजीने उसी स्वप्नमें फिर कहा कि "तेरा एकही बालक था, वह गुजर गया, तू किसीकी मानता नहीं।" यह स्वप्न देख कर मेरी आंखें खुलगईं, घबराकर देखा तो पुत्र मेरे बिस्तरे पर ही सो रहा था। (यह दो वर्ष पूर्वके समय स्वप्न हुआ, मैं इसको असत्य समझता था। परंतु बात वैसीही बन गई।)

"(५) ता० २१ अप्रैल स० १९२१ के प्रातःकालसे गुरुकुल जानेकी इच्छा मंद हो गई और फिर कभी वैसी उत्सुकता नहीं हुई।

"(६) ता० २३ अप्रैल स० १९२१ के प्रातःकाल ही गुरुकुलका पत्र प्राप्त हुआ, उसमें लिखा था कि "बालकका स्वर्गवास ता० २१।४।२१ को ६ बजे प्रातः हो गया। ता. १९ को विशेष ज्वर हुआ, ता० २० को सरसाम (सन्निपात) हो गया और ता० २१ को प्रातः यह घटना होगई।"

"(७) न कोई बालककी बीमारीकी खबर थी, अचानक यही पत्र प्राप्त हुआ और विशेष कुछ लिखा नहीं जाता। मैं स्वप्न वगैरा की बातें झूठीं समझा करता था, और न मुझे बहुत स्वप्न आते हैं, जो जैसे आये वेही आपको लिखें।

"(८) उक्त घटना होनेके पश्चात् इंद्रप्रस्थ गुरुकुलमें जाकर वहांके डाक्टरजीसे पूछनेपर विदित हुआ कि ता० २०।४।२१ के रात्रिको तथा ता० २१ के प्रातःकाल ठीक जिस वक्त मुझे स्वप्न

हुआ मेरा प्रिय पुत्र मेरे लिये तडफ रहा था, मुझे पुकारता तथा मेरे लिये उठ उठ कर भागता था। डाक्टरजीने पूछा कि 'कहाँ जाता है?' पुत्रने उत्तर दिया कि 'हमारे घर मेरे दादाजीके पास जाऊँगा।' (पुत्र मुझे दादाजी कहता था)"

इसपर विचार ।

इस प्रकार स्वप्नका वृत्तांत किसी किसी समय बराबर अनुभव में आता है। उक्त स्वप्नके संबंधमें निम्न बातें विचार करनी योग्य हैं—

(१) पुत्रकी बीमारीका वृत्तांत पिताको बिलकुल विदित नहीं था, परंतु पत्रद्वारा पुत्रकी कुशलताकाही पिताको पता हुआ था।

(२) जिस समय पिताके मनमें गुरुकुल जानेकी इच्छा उत्पन्न हुई थी उसी समय गुरुकुलमें उनका पुत्र अस्वस्थ होने लगा था और जब पुत्रकी बीमारी बढगई तब उस उदासीनताका परिणाम भूख आदि मिटनेमें हुआ। *

(३) पुत्रकी मृत्यु होनेके पश्चात् गुरुकुल पहुंचनेकी पिताके मनमें इच्छा कम हो गई और फिर वैसी इच्छा हुईही नहीं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जिस समय पुत्र रोगवश होनेके

---

* यहां पता लग सकता है कि मनकी उदासीनतासे पेटके पचन-व्यापारमें भी कितना परिवर्तन होता है। इसके उलटाभी परिणाम होता है, अर्थात् यदि मन उत्साहपूर्ण आनंदित रहा तो पेटकी कमजोरी दूर होकर भूख बढती है। मन प्रसन्न रखनेका इस प्रकार शरीरपर हितकारक परिणाम होता है। यही कारण है कि उदासीन विचारोंसे आयुष्य घटता है और उत्साहपूर्ण विचारोंसे दीर्घ जीवन प्राप्त होता है। इस प्रकार अपने स्वास्थ्यकी कुंजी अपने ही मनमें है और वैद्यकी गोलीमें नहीं है।

कारण अस्वस्थ हुआ, उसी समयसे पुत्रके मनमें पिताके पास जानेकी इच्छा हुई, वह पिताका स्मरण करने लगा और उसका परिणाम पिताके मनपर होनेसे,पिताके मनमें भी गुरुकुलमें जाकर पुत्रको देखनेकी इच्छा प्रबल हुई। पुत्रकी बीमारीकी प्रबलताके साथ, पिताके मनकी इच्छा भी वहाँ पहुँचनेके लिये प्रबल हो गई, यह बात मानसिक संदेशका वेग बता रही है।

उक्त बातोंका परस्पर संबंध अत्यंत स्पष्ट है। स्वप्नका समय और पुत्रके मृत्युका समय ठीक एकही है। उस स्वप्नके पश्चात् पुत्रदर्शनकी अभिलाषा पिताके मनमें न होनेका कारण स्पष्टही है, क्योंकि मानसिक संदेश भेजनेवाला पुत्रका मन उस समय पुत्रके शरीरसे अलग हो चुका था और पुत्रका आत्मा मरणोत्तर-कालीन सुप्त अवस्थामें पहुँचनेके कारण, न तो उसको अपनी बीमारीका पता था और न पिताका स्मरण था।

स्वप्नमें मृत पिताका और मृत स्त्रीका दर्शन और उनके शब्द विचार करने योग्य हैं। उन शब्दोंका संबंध मृत पुत्रकी मृत्युके समयकी अवस्थाके साथ स्पष्ट है। इस विषयमें विशेष निश्चयकी बात लिखी नहीं जा सकती, क्योंकि इस प्रकारके मृत पुरुषोंके स्वप्नमें दर्शन होनेके विषयमें अधिक प्रमाणोंकी आवश्यकता है, तथा अधिक सूक्ष्म विचार होनेकी भी आवश्यकता है। इसलिये इस विषयमें यहां कुछभी लिखनेका विचार नहीं है, परंतु जो बातें बाह्य सृष्टिमें हो गई हैं, उस विषयमें स्पष्ट प्रमाण होनेके कारण थोडासा लिखनेका विचार किया है।

पितापुत्रका अत्यंत प्रेम था। अकेला एक पुत्र दूर गुरुकुलमें होनेसे पिताका मन पुत्रके विषयमें आतुरताका भाव रखता होगा। इस प्रकारका आतुर मन अत्यंत नरम और कोमलसा

होता है,इसी कारण उसपर मानसिक आघात शीघ्र परिणाम कर सकते हैं । यही कारण है कि जिस समय पुत्रके मनमें पितृ-दर्शनकी उत्सुकता हो गई, अथवा पुत्रका मन शरीरकी अस्वस्थ-ताके कारण व्याकुल हुआ, उसी समय पिताके मनपर भी उसका परिणाम हो गया ।

सितार, बीन आदि वाद्य जो बजाते हैं, उनको अनुभव है कि एक तार बजानेसे, उस तारके स्वरके साथ मिले हुए जितने तार होंगे उतनेही विना बजाये आवाज देने लगते हैं । पिता-पुत्र, स्त्री-पुरुष, इष्टमित्र आदिमें यदि मानसिक संबंध अत्यंत प्रेमका होगा, तो एकके भाव दूसरेके मनमें उद्भूत होना अत्यंत स्वाभा-विक बात है । एकको दुःख होनेसे दूसरेका मन इसी कारण उदास होने लगता है ।

मन विद्युत् तत्त्वका बना है, अथवा यों समझिये कि विद्युत्-शक्ति मनमें केंद्रित हुई है । तथा संपूर्ण जगत्में विद्युत्तत्त्व पूर्णतासे व्याप्त है । अर्थात् जगद्व्यापक विद्युत्तत्त्वके साथ हमारे मनका संबंध है । इसलिये एक मनमें सुखदुःखादि विचारोंके कारण जो न्यूनाधिक हलचल होती है, उसके आघात बाहिरके विद्युत्में होते हैं और वे आघात इस विद्युत्द्वारा तत्सदृश दूसरे-के मनतक पहुंचते हैं । ये आघात् हरएकके मनपर इसलिये असर नहीं कर सकते, क्योंकि हरएकका मन एकसाही नरम अथवा सख्त नहीं होता । मनकी न्यूनाधिक अवस्थाके कारण सम अवस्थाका मनही कंपित हो सकता है ।

इतना विचार होनेपर भी दो वर्ष पूर्वके स्वप्नमें, जब कि पुत्र गुरुकुलमें दाखिल भी नहीं किया गया था, उस समयके स्वप्नमें 'गुरुकुलमें पुत्रकी मृत्यु हुई ' यह बात दिखाई पडना विलक्षण प्रतीत होता है । परंतु आश्चर्य यह है कि उसी स्वप्नके अनुसार

अंतमें बात बन गई। कई विचारी पुरुष ऐसे प्रसंगोंको देखकर ही कहने लगते हैं कि मृत्युका समय निश्चित हुआ करता है। परंतु "मृत्यु दूर किया जा सकता है," इस विषयमें वेदके मंत्र अत्यंत स्पष्ट हैं, दीर्घ आयु प्राप्त करनेके विषयमें योगके कथन तथा आर्षवचन इतने स्पष्ट हैं कि उनके संबंधमें शंका भी नहीं हो सकती।

इसलिये विचार करना चाहिये कि दीर्घ आयुष्य कौन प्राप्त कर सकता है और कौन नहीं। यद्यपि स्वप्नका विचार करनाही इस लेखका मुख्य उद्देश है, तथापि प्रसंगतः यहां इतना कह देना पर्याप्त होगा कि, (१) बालक अवस्थामें स्वतंत्र पुरुषार्थकी कर्तृत्वशक्ति विकसित न होनेके कारण, उस अवस्थामें जो बातें होती हैं, उनका संबंध निश्चितरूपसे पूर्वकर्मोंके साथही होता है। (२) "मै यह करूँगा, और मैं ऐसा बनूँगा" इस प्रकारकी प्रबल इच्छाशक्ति यौवनके प्रारंभसे अर्थात् १५ वर्षकी आयुके पश्चात्, किंवा विशेष अवस्थामें ८ वर्षकी अवस्थामें भी बनती है। (३) जो सज्जन इस प्रकारकी प्रबल इच्छाशक्ति बनाते हैं और योग्य सुनियमानुसार योगाभ्यासादिद्वारा अपनी आयु बढानेका पुरुषार्थ करते हैं, उनकी दीर्घ आयु होती है। (४) परंतु सर्वसाधारण जनता योगादि श्रेष्ठ मार्गके अनुसार नहीं चलती, इसलिये उनका संपूर्ण जीवन पूर्वकर्मके वेगके अनुसार ही हुआ करता है।

इस स्पष्टीकरणसे पता लग सकता है कि कौन पूर्वकर्मके प्रवाह में बह जानेवाले होते हैं, और कौन पूर्वकर्मोंके प्रवाहको तोडकर अपनी इच्छानुसार उसका वेग बदलनेवाले होते हैं। वैदिक धर्म के उपदेशानुसार मनुष्य अपना व्यवहार करेगा, तो वह कर्मोंके

वेगको अपनी इच्छानुसार बदलनेकी योग्यता निश्चयसे प्राप्त कर सकता है, परंतु ऐसा होनेके लिये वैदिक धर्मके लोग अनुष्ठानी होने चाहियें। जो अनुष्ठान करेंगे वे प्रत्यक्ष अनुभव भी प्राप्त कर सकते हैं। आजकल जो वेदके विषयमें प्रेम दिखाई देता है वह केवल बातोंमें है, तथा सब प्रयत्न दूसरोंके सुधारके लिये हो रहे हैं !! परंतु स्मरण रहे कि फुरसतके समयके प्रचारसे सच्चे धर्मकी जाग्रति नहीं हो सकती; क्यों कि जो दीप स्वयं जलता नहीं है, वह दूसरे दीपोंको जगा नहीं सकता। अस्तु। यही कारण है कि वैदिक धर्मके प्रचारका कार्य भी प्राचीन आर्योंकी रीतिके अनुसार नहीं होता है, परंतु पश्चिमीय विचारोंकी लहरोंके अनुसार होता है। स्वयं अपने अंतःकरणका दीप वेदाध्ययनसे जगाकर, अनुभवके पश्चात्ही दूसरेके अन्दर दीप जगानेका यत्न होना चाहिये। अस्तु।

प्रचलित विषय स्वप्नका है। दो वर्ष पूर्व अपने पुत्रका मरण जिसने अपने स्वप्नमें देखा था, उसीने अपने पुत्रका मरण गुरुकुलमें होनेका अनुभव लिया, और पुत्रके मरणसमयमें भी स्वप्नसेही उसको मृत्युकी सूचना मिली। इसका विचार करनेके समय यह मृत्यु बाल्यावस्थामें हुई है, यह बात भूलना नहीं चाहिये। पूर्व स्थलमें कहा ही है कि बाल्यावस्थामें होनेवाली मृत्यु पूर्वकर्मानुसार होती है अर्थात् जो बात पूर्वकर्मानुसार होती है वह निश्चित होती है। जो बात निश्चित होती है, उसका समय और स्वरूप भी निश्चित हो सकता है। जो बात निश्चित समयमें, निश्चित रूपसे होनेवाली होती है, उसका जैसा पता उस समयमें लग सकता है, उसी प्रकार उस समयके पूर्व भी लग सकता है। जैसा सूर्यचंद्रके ग्रहणोंका पता कई वर्ष पूर्व भी लग सकता है, क्यों कि सूर्यचंद्र आदि ग्रहोंकी गति निश्चित है।

निश्चित होनेसेही पहिले पता लग सकता है। जो कोई बात निश्चित होती है उसका पता पहिले भी लग सकता है, परंतु पुरुषार्थकी बात अनिश्चित होनेके कारण पुरुषार्थी योगी इच्छामरणीभी हो सकता है, इसलिये उसके विषयमें भविष्यकी बातें जानना असंभव है। परन्तु जो कर्मके प्रवाहकी गतिके अनुसार बह रहे हैं, वे इतने समयमें वहांतक पहुचेंगे, ऐसा कहा जा सकता है। जो कर्मकी गतिका विज्ञान जानेंगे उनका अनुमान ठीक होगा, औरोंका गलत भी हो सकता है।

उक्त पुत्रकी मृत्यु गुरुकुलमें निश्चित थी, क्यों कि पुरुषार्थकी आयु प्राप्त होनेके पूर्वही वह होनेवाली थी। उसकी मृत्युका निश्चय होनेके कारण उसकी मृत्युकी कल्पना सर्वव्यापक यमस्वरूप परमेश्वरकी व्यापक बुद्धिमें पहिलेही निश्चयरूपसे होनी स्वाभाविक है। यदि किसीका मन किसी कारण परमेश्वरकी बुद्धिके साथ संलग्न हो गया तो वह मृत्युकी उस कल्पनाको जान सकता है। इस प्रकार किसी किसीको उन बातोंका पता पहिलेही स्वप्नमें होता है कि, जो बातें भविष्यमें बननेवाली होती हैं। इसका और एक उदाहरण जो अभी प्रत्यक्ष देखनेके कारण विश्वास करने योग्य है, जैसा हुआ वैसाही यहाँ लिखता हूं—

और एक स्वप्न।

"(१) ता. १० जून स. १९२१ शुक्रवारकी रात्रिमें मेरी धर्मपत्नीको एक स्वप्न हुआ। जिसमें उन्होंने देखा कि श्री. युवराज राजासाहिब महाराजाका द्वितीय पुत्र सायंकालके समय मर गया और उसके शवको नौकर लेजा रहे हैं" इ०।

"(२) दूसरे दिन उक्त स्वप्नका वृत्तांत धर्मपत्नीने मुझे सुनाया, परंतु जिस पुत्रके विषयका स्वप्न था वह वैसा बीमार

न होनेके कारण हमको उक्त स्वप्न केवल कल्पनारूपही विदित हुआ ।”

“(३) उस पुत्रकी बीमारीकी अथवा स्वास्थ्यकी कोई बात धर्मपत्नीको विदित न थी । और जिस समय उक्त स्वप्न हुआ उस समय वह कोई विशेष बीमार भी नहीं था ।”

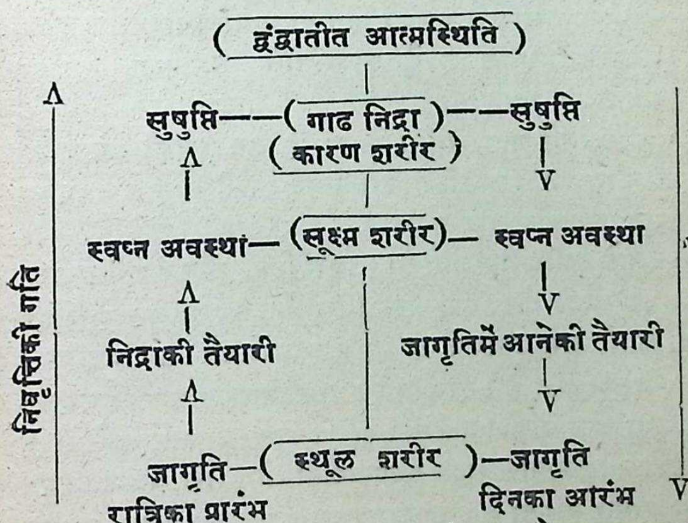
“(४) शनिवारके दिन सायंकाल राजासाहिबके डाक्टरोंने पुत्रके स्वास्थ्यकी परीक्षा की तो पता लगा कि उसको घटसर्पकी (डिप्थेरिया) बीमारी हो गई है । यह बीमारी भयानक होनेके कारण बडे बडे डाक्टर बाहिरसे भी बुलाये गये और बडे प्रयत्नसे इलाज होता रहा ।”

“(५) सोमवार (ता० १३ जून १९२१) के दिन पूरे दिनभर आराम भी रहा । तीन डॉक्टर अपनी पराकाष्टा कर रहे थे। परंतु अंतमें सोमवारके सायंकालमें सात बजानेके समय दस पांच मिनिटोंमें ही बीमारी बढ गई और उस तीन वर्षकी आयुके बालकका देहांत हो गया । ”

इस प्रकार प्रत्यक्ष मेरे सामने यह स्वप्नका अनुभव हुआ है । यह बात आँधमें मेरे सन्मुख हुई । जैसी घटना हुई वैसीही ऊपर लिखी है । जिस दिन जिसके विषयमें स्वप्न हुआ उस दिनके तीन दिन पश्चात् उसी लड़केका देहांत हुआ । स्वप्नमें देहान्तका समय सायंकालकाही था । मृत्यु होनेसे तीन दिन पूर्व लडकेके स्वास्थ्यकेही समय, उसीके मृत्युका दृश्य स्वप्नमें दिखाई दिया, यह विलक्षण बात है; इसलिये मानसशास्त्रका विचार करनेवालोंके लिये यह विचार करने योग्य बात है, इसमें कोई संदेह नहीं है ।

स्वप्न कैसे होते हैं और इनमें सत्यका भाग रहता है वा नहीं, इसका यहां अवश्य विचार करना है। स्थूल शरीरका संबंध

छूटने और सूक्ष्म शरीरपर ही केवल कार्य करनेकी अवस्थामें आत्मा स्वप्न देखता है। प्रायः स्वप्न ऐसेही होते हैं कि जो विचार मनमें होते हैं; सौमें निन्नानवे स्वप्न अपनी इच्छाके प्रतिबिंबरूपही होते हैं। जीवात्माके लिये तीन अवस्थाओंका अनुभव प्रतिदिन आता है—



जीवात्मा स्थूल शरीरमें जबतक कार्य करता है तबतक जागृति होती है। जब शरीर थक जाता है तब उसको विश्रांति देनेके लिये तथा उसमें नवीन शक्तिकी स्थापना करनेके लिये जीवात्मा-रूपी सूर्य स्थूल शरीरमें फैली हुई अपनी किरणोंको आकर्षित करता है और सूक्ष्म शरीरमेंही अपना "मनो-राज्य" करने लगता है। यही स्वप्नावस्था है। जागृतिसे सुषुप्तिमें जानेके समय बीचकी यह अवस्था होती है। प्रतिदिनके स्वप्न हरएकको स्मरण नहीं होते, इससे यह अनुमान करना गलत होगा कि स्वप्न हुए ही

नहीं। प्रति दिन स्वप्नसृष्टिका अनुभव होता है, परंतु हमारी स्मरणक्तिकी कमजोरीके कारण उनका स्मरण नहीं रहता। इस विषयमें उपनिषदोंका निम्न मंत्र विचार करने योग्य है—

स्वप्न-स्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्तांग एकोनविंशतिमुखः
प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः ॥ ४ ॥
स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादु-
भयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसंततिं समानश्च
भवति० ॥ १० ॥ मांडूक्य उ०

"स्वप्नस्थानमें जब आत्मा जाता है तब इसकी प्रज्ञाबुद्धि अंदरही कार्य करने लगती है, इस समय इसके सात अंग (पांच सूक्ष्म भूत, अहंकार और महत्तत्त्व ये सात अंग) होते हैं, इस समय इसके उन्नीस मुख होते हैं। (७ज्ञानेंद्रियों और ७कर्मेंद्रियोंके मूल सूक्ष्म चौदह केंद्र, पंच सूक्ष्म प्राण मिलकर उन्नीस मुख हैं; आंख, कान, नाक प्रत्येकके दो दो केंद्र मिलकर छः केंद्र हुए, त्वचा सातवां केंद्र है। दो पांव दो हाथ मिलकर चार और मूत्र-द्वार, गुदा और वाणी इनके तीन इंद्रिय मिलकर सात होते हैं) इन अंगों और मुखोंसे सूक्ष्म कल्पनाकेही भोग इस स्वप्न अवस्थामें आत्मा भोगता है। यह आत्माका बीचवाला तैजस द्वितीय पाद है। स्वप्नस्थानका तैजस रूप है, इसका दर्शक उकार ओंकारके बीचमें है। यह उत्कृष्ट अवस्था है और (जागृति तथा सुषुप्ति इन) दोनों अवस्थाओंके साथ संबंध रखनेवाली है।"

स्वप्नकी अवस्थाका वास्तविक वर्णन इन मंत्रोंके विचारसे प्राप्त हो सकता है। जागृतिमें स्थूल शरीरका संबंध रहता है वह संबंध इस अवस्थामें नहीं होता, इस लिये स्वप्नमें स्थूल सृष्टिका दर्शन नहीं होता। इस अवस्थामें केवल कल्पनाकाही मनोराज्य चलता है, इसलिये जैसी जिसकी कल्पना और जैसे जिसके

संस्कार होते हैं वैसे उसको स्वप्न दीखते हैं। इस विषयमें उपनिषदोंके निम्न मंत्र देखिये—

य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मेति ॥

छा. उ. ८-१०-१

तद्यत्रैतत् सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्येष आत्मेति० ॥ छां. उ. ८-११-१

"स्वप्नमें जो अपने गौरवके साथ चलता है वह आत्मा है। गाढ निद्रा प्राप्त होनेपर आनंदित होता हुआ जो स्वप्नकोभी नहीं जानता वह आत्मा है।"

इस छांदोग्य वचनमें स्पष्ट कहा है कि सुषुप्तिके पूर्वकी यह स्वप्नावस्था है। तथा बृहदारण्यक उपनिषद्में कहा है।—

स हि स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति ॥ तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवतः इदं च परलोकस्थानं च संध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानं तस्मिन्संध्ये स्थाने तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यतीदं च परलोकस्थानं च ॥

बृ. ४।३।९

"वह आत्मा स्वप्न अवस्थामें जाकर इस लोकका अतिक्रमण करता है। इस पुरुषके दो स्थान होते हैं, एक इस लोकका और दूसरा परलोकका स्थान, तीसरा संधिस्थान है जिसको स्वप्नस्थान कहते हैं, इस संधिस्थान अर्थात् स्वप्नस्थानमें रहता हुआ यह दोनों स्थानोंको देखता है।"

१ परलोक	स्वः	स्वर्ग	सुषुप्ति	कारणदेह
२ संधिलोक	भुवः	अंतरिक्ष	स्वप्न	सूक्ष्मदेह
३ इहलोक	भूः	पृथिवी	जागृति	स्थूलदेह

उक्त बृहदारण्यकवचनके तात्पर्यसे यह कोष्टक बनता है। इससे स्वर्गलोककी भी कल्पना हो सकती है। गाढ निद्रामें मनुष्य स्वर्गधामतक पहुंचकर पुनः जागृतिमें इस भूलोकमें प्राप्त होता है। और बीचके संधिस्थानमें उसको स्वप्नका अनुभव होता है। इस प्रकार मनुष्यको प्रतिदिन स्वर्गधामका आनंद प्राप्त होता है, स्वप्नका मुकाम तो उसके मार्गमेंही है। तथा—

स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो रूपाणि देवः कुरुते बहूनि॥ उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुते वापि भयानि पश्यन्॥१३॥ स वा एष एतस्मिन्स्वप्ने रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च०॥ बृ. ४-३-९, १५॥

"स्वप्नमें वह अच्छे अथवा बुरे भाव, सुखके अथवा भयके दृश्य देखता है।" यह उसका अनुभव वह जागृतिमें आकर कहता है। आनंदकारक स्वप्नोंसे आनंदित होता है और भयके स्वप्नोंसे भयभीत होता है। इस विषयमें निम्न वचन देखिये—

यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति॥
समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने॥
छां. उ. ५-२-९

"जब काम्य कर्मोंमें स्वप्नमें स्त्रीका दर्शन होगा, तब वहां उस स्वप्नदर्शनसे समृद्धि सूचित होगी।" यदि छांदोग्य उपनिषद्के मतानुसार कई स्वप्न समृद्धिसूचक होंगे, तो निःसंदेह ऐसेभी दूसरे स्वप्न होंगे कि जो विपत्तिके सूचक हो सकते हैं। विचारशील मनुष्य सहस्रों स्वप्नोंके अनुभव एकत्रित करके उसका एक शास्त्र बना सकते हैं, जिसमें शुभ स्वप्नोंके लक्षण प्रकाशित किये जा सकते हैं। परंतु इस समयतक वैसा प्रयत्न किसीने नहीं किया। इसका कारण इतनाही है कि ऐसा करनेसे

कोई लाभ होना संभव ही नहीं है। स्वप्नसे यदि किसी बातकी सूचना मिलभी गई तो, उसको जानना कठिन है, और जाननेके पश्चात् अनिष्टको दूर करना असंभव है, इसलिये ऋषियोंने स्वप्नशास्त्र बनानेका यत्न नहीं किया। किसी किसी समय स्वप्नका अर्थ भी तबतक समझता नहीं जबतक कि वह बात बन नहीं जाती। तथापि स्वप्नका तत्त्व जाननेका हरएकको अवश्य यत्न करना चाहिये, क्योंकि उससे अपने आत्माकी शक्तिका पता लगता है, परंतु दुष्ट स्वप्नके कारण अपना मन विनाकारण उदासीन भी नहीं करना चाहिये, तथा उत्तम स्वप्नसे व्यर्थ खुश भी नहीं होना चाहिये। स्वप्नके विषयमें प्रश्नोपनिषद्का कथन अब देखिये—

अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति। यद् दृष्टं दृष्टमनुपश्यति। श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुशृणोति। देशदिगंतरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति। दृष्टं चादृष्टं च, श्रुतं चाश्रुतं च, अनुभूतं चाननुभूतं च, सच्चासच्च सर्वं पश्यति॥

प्र. उ. ४।५

"यहां स्वप्नमें यह आत्मदेव अपनी महिमाका अनुभव करता है। जो देखा हुआ होता है वह फिर देखता है, सुनी हुई बातोंको सुनता है, देशदेशांतरोंमें अनुभव की हुई बातोंका पुनः पुनः अनुभव करता है। देखा अथवा न देखा, सुना अथवा न सुना हुआ जो होता है तथा अनुभव किया हुआ अथवा न किया हुआ भी, तथा सत् और असत् सब कुछ यह स्वप्नमें देखता है।"

"सत् और असत्" अर्थात् सत्य असत्य, अच्छी बुरी, सबही बातें यह स्वप्नमें देखता है। प्रायः देखी और अनुभूत बातोंको ही देखता है, परंतु किसी किसी समय न देखी हुई बातें भी

स्वप्नमें दिखाई देती हैं; कल्पनातरंगोंसे ऐसा होना स्वाभाविक ही प्रतीत होता है। कल्पनामें दो बातें एकत्रित मिलाई जाती है, जैसे पक्षीका उडना और मनुष्यका चलना, इन दोनों अनुभवोंको मिलाकर "मैं उड रहा हूं" ऐसा अनुभव स्वप्नमें हुआ करता है। इस प्रकार उपनिषदोंका कथन है। अब वेदमंत्रोंका विचार करते हैं—

विद्म ते स्वप्न जनित्रं ग्राह्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः ॥ ० निर्ऋत्याः पुत्रोऽसि ॥ ० अभूत्याः पुत्रोऽसि ॥ ० निर्भूत्याः पुत्रोऽसि ॥ ० पराभूत्याः पुत्रोऽसि ॥

अ. १६।५।१-८

"हे स्वप्न! तेरी उत्पत्तिका हमें पता है, तू (ग्राह्याः) चिरकालीन रोग, (निर्ऋत्याः) सत्य नियमोंके विरुद्ध आचरण, (अभूत्याः) दारिद्र्य, (निर्भूत्याः) उदासीनता तथा (पराभूत्याः) पराभव आदिका बच्चा है, और तू यमका सहायक है।"

इस मंत्रमें स्वप्नके पांच कारण दिये हैं। (१) चिरकालीन रोगोंकी शरीरमें स्थिति, (२) सुनियमोंके विरुद्ध आचरण, (३) दारिद्र्य की विपन्न अवस्था, (४) उदासीनता, दुर्मुखता, (५) जगत्के व्यवहारोंमें पराभव प्राप्त होना, ये पांच कारण हैं कि जिनसे बुरे स्वप्न होते हैं, "ये बुरे स्वप्न मृत्युके सहायक हैं।" उक्त विपत्तियोंके कारण मन सदा चिंतातुर रहता है, जिससे बुरे स्वप्न होते हैं। स्वप्नके कारणोंके विषयमें निम्न मंत्र देखने योग्य है—

अरिप्रा आपो अप रिप्रमस्मात्। प्रास्मदेनो दुरितं सु प्रतीकाः प्र दुष्वप्न्यं प्र मलं वहंतु ॥

अ. १०।५।२४

"निर्दोष जल हमारे (रिप्रं अप) दोष दूर करे, तथा (एनः) पाप, मल और दुष्ट स्वप्नका कारण (प्र वहंतु) दूर करे ।"

(१) शरीरमें मलोंका संचय, (२) मनमें पापभावना और अन्य दोष होनेके कारण बुरे स्वप्न होते हैं, जलचिकित्सासे अथवा निर्दोष और स्वच्छ जलके प्रयोगसे उक्त दोष दूर हो जाते हैं और दुष्ट स्वप्न नहीं आते। तथा—

दुष्वप्न्यं दुरितं निष्वाथ गच्छेम सुकृतस्य लोकं ॥

अ. ७।८३।४

"(दुरितं) पाप और दुष्ट स्वप्न दूर करके (सुकृतस्य) सत्कर्मके लोकको प्राप्त करेंगे ।" यहां "दुरित" (दुः+इत) शब्दसे केवल पापका बोध ही नहीं होता, परंतु जो बुराई शरीर, मन और बुद्धिमें प्रविष्ट होती है, वह सब इस शब्दसे बोधित होती है । दुष्ट स्वप्नोंका यह कारण है तथा—

असन्मंत्राद्दु ष्वप्न्याद्दु ष्कृताच्छमलादुत । दुर्हार्दश्चक्षुषो घोरात् तस्मान्नः पाह्यंजन ॥

अ. ४।९।६

"(१) (अ-सत्-मंत्रात्) दुष्ट विचार, (२) दुष्ट स्वप्न, (३) दुराचार, (४) (शम-लात्) शांतिका नाश करनेवाले प्रकार, (५) (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदय, (६) (घोरात्) भयंकर नेत्रोंके भाव आदिसे हम सबको बचाओ ।" ये सब दुष्ट स्वप्नोंके साथी हैं । ये ही दुष्ट स्वप्नके कारण हैं। जो कोई चाहता है कि बुरे स्वप्नोंसे अपने आपको कष्ट न हो, वह इन मंत्रोंमें कहीं बातोंका ख्याल रखे, उसको बुरे स्वप्न कष्ट नहीं देंगे, अर्थात् उसको बुरे स्वप्न ही नहीं दिखाई देंगे । बुरे स्वप्नोंके उदाहरण निम्न मंत्रोंमें देखिये—

यत्ते स्वप्न अन्नमश्नामि न प्रातरधिगम्यते ॥
सर्वं तदस्तु मे शिवं नहि तद् दृश्यते दिवा ॥

अ. ७।१०।११

"स्वप्नमें जो अन्न मैं खाता हूं, वह प्रातःकाल दीखता नहीं है। वह सब मेरे लिये शुभ हो, जो दिनमें दीखता नहीं है।" इससे प्रतीत होता है कि स्वप्नमें भोजन करना अच्छा नहीं है। शरीरमें बीमारी प्रविष्ट होनेसे इस प्रकारके स्वप्न होते हैं, इस लिये ये स्वप्न अस्वास्थ्यके सूचक हैं। पूर्व मंत्रोंमें दुष्ट स्वप्नोंके कारणोंमें इस प्रकारके स्वप्नोंका कारण पाठक देख सकते हैं। तथा इस विषयमें निम्न मंत्र देखने योग्य है—

यस्त्वा स्वप्नेन तमसा मोहयित्वा निपद्यते। अ. २०।९६।१६

"जो तमरूप स्वप्नके द्वारा तुझे मोह करता है।" अर्थात् ये सब स्वप्न तम अवस्थाके कारण होते हैं। तमोगुणकी प्रधानतासे इनकी उत्पत्ति है। इस लिये सात्त्विक भावनाकी वृद्धि करनेसे दुष्ट स्वप्नोंको दूर किया जा सकता है। तमोगुण जिनमें प्रधान रहता है, इस प्रकारके मनुष्योंमें ज्ञान कम होता है, और चित्तमें भ्रांति बहुत रहती है, यह कारण है कि उनको स्वप्नमें नाना प्रकारके आकार दिखाई देते हैं। अपने संबंधियोंका दर्शन स्वप्नमें होनेके विषयमें वेदका कथन निम्न मंत्रोंमें देखने योग्य है—

यस्त्वा स्वप्ने निपद्यते भ्राता भूत्वा पितेव च ॥
व्रजस्तान्त्सहतामितः क्लीबरूपांस्तिरीटिनः ॥७॥

अ. ८।६

"तेरा भाई अथवा पिता होकर जो तेरे स्वप्नमें आता है, उन घातक क्लीबरूपोंको (व्रजः) बलवान् बनकर ही दूर किया जा सकता है।"

तात्पर्य मनकी कमजोरीके कारण इस प्रकारके आकार स्वप्नमें दिखाई देते हैं। यद्यपि ये आकार भयानक भी होते हैं तो भी ये स्वयं (क्लीबरूप) असमर्थ होनेके कारण बलवान्का घात नहीं कर सकते, इसलिये मनको बलवान् बनानेसे उक्त स्वप्नोंका भय दूर किया जा सकता है। कई लोग इन स्वप्नोंको डरते हैं, और उसकी फिकिरमेंही मरने लगते हैं। उनको उक्त मंत्रका उपदेश ध्यानमें धारण करने योग्य है। स्वप्नोंके आकार क्लीब होते हैं, उनमें कोई सामर्थ्य नहीं होता, इसलिये धैर्य धारण करनेसे कोई बिगाड नहीं हो सकता। तात्पर्य यह कि जो मनुष्य डरपोक होंगे उनका नाश इन स्वप्नोंके कारण हो सकता है, परंतु यहां स्मरण रहे कि, "यह स्वप्नका दोष नहीं, प्रत्युत उनके मनकी कमजोरीका दोष है।" इसलिये वैदिक उपदेशके अनुसार धैर्य धारण करके स्वप्नोंसे डरना नहीं चाहिये। स्वप्नदोष दूर करनेका उपाय निम्न मंत्रमें देखिये--

स्वप्नं सुप्त्वा यदि पश्यसि पापं० ॥

अ. १०।३।६

पर्यावर्ते दुष्वप्न्यात्पापात्स्वप्न्यादभूत्याः ॥
ब्रह्माहमंतरं कृण्वे परा स्वप्नमुखाः शुचः ॥

अ. ७।१००।१

"यदि स्वप्नमें बुरा भाव देखा तो इस प्रकारके दुष्ट स्वप्नों और पापमूल आपत्तिसूचक स्वप्नोंके पश्चात् मैं (अंतरं) मनके अंदर (ब्रह्म कृण्वे) ब्रह्मकी उपासना-प्रार्थना-करता हूं, जिससे (शुचः) शोक उत्पन्न करनेवाले स्वप्नके मुख्य परिणाम (परा) दूर होते हैं।"

यह उपाय है कि जिससे पाठक अपने मनको दृढ बना सकते हैं। परमेश्वरकी प्रार्थना करनेसे वह इस प्रकारके भयसे अपनेको

बचा सकता है। अब किसी प्रकारके बुरे स्वप्नसे कोई भी न डरे। पहिले तो यह विश्वास रखे कि स्वप्नके आकार और दृश्य शक्तिहीन होनेसे हमारा बुरा नहीं कर सकते। पश्चात् यदि किसीका मन कमजोर रहा तो इस प्रकारके स्वप्नके पश्चात् ईश्वरोपासनासे अपने मनमें बल बढावे। सर्वशक्तिमान परमेश्वर इस समय अवश्य ही बल देगा। मनकी सब कमजोरी ईशउपासनासे दूर होगी। इसी विषयकी और एक प्रार्थना देखिए—

यो मे राजन् युज्यो वा सखा वा स्वप्ने भयं भीरवे मह्यमाह॥
स्तेनो वा यो दिप्सति नो वृको वा त्वं तस्माद् वरुण पाह्यस्मान्॥

ऋ. २।२८।१०

"हे वरुण राजन्! हे देव! जो मेरा मित्र, साथी, चोर, हिंस्र पशु आदि स्वप्नमें आकर (भीरवे मह्यं) मुझ भीरुको डराता है, उससे मुझे बचाओ।" यह वह प्रार्थना है जो कि स्वप्नके पश्चात् करनी चाहिये। इससे उपासकके मनमें बल प्राप्त होता है। इस प्रार्थनामंत्रमें ऐसी शब्दयोजना है कि जो स्वप्नके भयकी वास्तविक बात प्रकट कर रही है। मंत्रमें "भीरवे मह्यं" (डरपोक मैं हूं इसलिये मुझे डर होता है) ये शब्द हैं। अर्थात् यदि किसीके मनमें भीरुता अथवा डर न होगा तो उसको किसी प्रकारके स्वप्नसे भय न होगा। परंतु सर्वसाधारण जनतामें ऐसे धैर्यवान् पुरुष कम होते हैं, इसलिये दुष्ट स्वप्नका मनपर जो बुरा असर होता है, उसको दूर करनेके लिये "ब्रह्मकी उपासना" यह एक मात्र उपाय है। ईश्वरभक्तिसे मन बलवान् होता है और बल प्राप्त होनेसे मनके सभी कुसंस्कार दूर हो सकते हैं। आशा है कि पाठक इससे उचित बोध लेंगे।

स्वप्न मनके संस्कारोंके कारण होते हैं। इसलिये अपने मनके

संस्कारोंकी परीक्षा करनेके लिये स्वप्नोंका विचार करना चाहिये। इतनी मनकी उन्नति करनी चाहिये कि स्वप्नमें भी मनसे पाप न हो, स्वप्नका किया हुआ पापभी बुराहो है—

यदि जाग्रद् यदि स्वप्ने एनांसि चकृमा वयं ॥
सूर्यो मा तस्मादेनसो विश्वस्मान्मुंचत्वंहसः ॥ यजु० २०।१६

"यदि हम जागृतिमें अथवा स्वप्नमें पाप करेंगे, तो उससे हम सबको (सूर्यः) देव बचावे।" अपने स्वप्नकी परीक्षासे अपनी धार्मिक अवस्थाका पता लग सकता है। इसलिये हर-एकको अपने स्वप्नकी परीक्षा करना उचित है। इस प्रकार वेदका स्वप्न विषयक आदेश है।

अब इस लेखका तात्पर्य यह है कि यद्यपि कई स्वप्न भविष्यमें होनेवाले बातोंके ठीक ठीक निदर्शक होते हैं, तथापि यह कोई नियम नहीं है कि हरएक स्वप्नका संबंध इस प्रकार बताया जा सकता है। तथा स्वप्नकी सचाई परिणाम देखनेके पश्चात् ही विदित होनेवाली होनेसे स्वप्नकी सूचनासे होनेवाली बातमें कोई न्यूनाधिकता नहीं हो सकती। इसलिये न केवल स्वप्नोंका डरही नहीं मानना चाहिये, परंतु अपने उपर स्वप्नसे कोई परिणाम होगा ऐसा विचार भी कभी धारण नहीं करना चाहिये; क्योंकि स्वप्नके दृश्यमें ऐसी कोई शक्ति नहीं होती। तथापि यदि किसीको स्वप्नकी भीति प्रतीत होती हो, तो उसको ईश्वरउपासनाद्वारा उसका निवारण करना चाहिये।

यद्यपि उक्त हेतुके कारण स्वप्नोंका विचार भी करनेकी कोई जरूरत नहीं है, तथापि स्वप्नोंसे अपने मनकी विलक्षण शक्तिका ज्ञान होता है इसलिये स्वप्नोंका तत्वविचारकी दृष्टिसे विचार करना चाहिये। स्वप्नकी अवस्थाका ठीक ठीक विचार होनेसे

आत्माकी शक्तिका अनुभव होता है, इस दृष्टिसे स्वप्नोंका आंदोलन करना चाहिये। इसलिये पाठकोंसे निवेदन है कि वे किसी प्रकारके स्वप्नसे न डरें परंतु उसको "आत्मा, बुद्धि, मन और चित्त इनकी शक्तियोंका ज्ञान होनेका साधन समझकर इस दृष्टिसे उनका विचार करें।" "वैदिक धर्म" में स्वप्नोंके कई वृत्तांत प्रकाशित हुए हैं और प्रत्येक स्वप्नसे मनके विलक्षण सामर्थ्यका प्रमाण मिला है। यदि पाठक इस प्रकारके अपने अनुभव लिखेंगे, तो लोगोंपर बडा उपकार हो सकता है।

जो मनकी शक्ति स्वप्नद्वारा प्रकट होती है, वह योगसाधनसे यदि बढाई जाय तो जागृतिमें भी काममें लाई जा सकती है। पाठक इस दृष्टिसे इन स्वप्नोंका विचार करें और इनके विचारसे अपनी शक्तिको जानकर, उस शक्तिका विकास करके सब प्रकारकी उन्नति प्राप्त करें।

अपने प्रभावका गौरव ।

कई लोग अपने आपको तुच्छ समजते हैं, 'मैं गिरा हुआ हूं, मैं पतित हूं'' आदि वाक्य बोलनेका कईयोंको बडा अभ्यास होता है। केवल अभ्यासकीही बात नहीं, प्रत्युत ऐसा बोलते रहना बडी नम्रताका और सौजन्यका चिन्ह समझा जाता है परंतु-

नात्मानमवमन्येत ।

'अपना अपमान करना उचित नहीं' ऐसा महाभारतमें कहा है। जो अपने आपके लिये तुच्छ शब्दोंका प्रयोग करेगा वह शीघ्र उठ नहीं सकता । वेदमें हजारों प्रार्थनाएं हैं, परंतु किसी स्थानपर 'हे परमेश्वर मैं पतित हूं, मुझे तुम उठाओ, मैं हीन हूं मुझे योग्य बनाओ' इस प्रकारकी पतित प्रार्थना नहीं है ।

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि ।
वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि ।
बलमसि बलं मयि धेहि ।
ओजोऽस्योजो मयि धेहि ।
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि ।
सहोऽसि सहो मयि धेहि॥ यजु० १९।९

'हे परमात्मन् ! तू तेजस्वी है, मुझमें तेज स्थापन कर, तू वीर्यवान् है, मुझमें वीर्य स्थापन कर, तू बलवान् है, मुझमें बल स्थापन कर, तू समर्थ है मुझमें सामर्थ्य स्थापन कर, तू उत्साहमय है मुझमें उत्साह स्थापन कर, तू सहनशक्तिसे युक्त है मुझमें श्रम सहन करनेकी शक्ति स्थापित कर ।' यह वैदिक प्रार्थना है। यदि आजकलकी दुर्बल रीतिसे उक्त प्रार्थना करना हो तो निम्न प्रकार की जा सकती है—

हे परमेश्वर ? मैं बिलकुल तुच्छ निर्बल, अन्धकार-मय' वीर्यहीन हूं, इसलिये कृपा करो और मुझमें शक्ति सामर्थ्य तेज और वीर्य स्थापन करो !

(आज कलके भजन पुस्तक)

आज कलके भजन पुस्तकोंके भजनोंमें इस प्रकारके भजन होते हैं। उक्त वेदके वाक्यके साथ इन भजनों और प्रार्थनाओंकी तुलना कीजिये और देखिये सच्ची धार्मिक ओजस्विता किसमें है।

मनुष्य जो शब्द बोलता है उसका परिणाम उसके आंतरिक मनपर होता, जो भाव आंतरिक मनपर होता है वही उसके शरीर-में और सब कारोबारोंमें होता है। इसलिये वेदमें किसी स्थान-पर आत्मघातकी प्रार्थना नहीं है, तेज, बल, ओज, उत्साह और सहनशक्ति हरएक मनुष्यको प्राप्त करना आवश्यक है; उक्त गुण परमेश्वरसेही प्राप्त होते हैं, इसलिये उक्त परमेश्वरीय गुण धारण करनेकी उत्साहपूर्ण योग्यताके साथ उपासनाके समय परमेश्वर के पास जाना चाहिये। उपासनाके समय दुर्गुणका स्मरणतक करना उचित नहीं है। अपने अथवा किसी अन्यके दुर्गुणके विचार करतेही मनके ऊपर दुर्गुणका लेप लगता है। इसलिये बडी सावधानीके साथ उपासनाके शब्द बोलने चाहिये।

अपने दुर्गुणोंका वारंवार उच्चारण करनेसे भी वैसाही बुरा असर होता है, कि जैसा दूसरेके दुर्गुणोंका उच्चार करनेसे होता है। यदि किसी समय बुरा कार्य हुआ तो झट उसी समय पश्चात्ताप करके उसको ऐसा भूलनेका यत्न करना चाहिये कि फिर उस विचारकी जागृति भी कभी न हो सके। वेद कहता है—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरंगैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥

यजु० २५।२१

(१) "कानोंसे अच्छे शब्द सुनें, (२) आंखोंद्वारा अच्छे भावसे देखें, (३) सुदृढ शरीरके साथ वाणीद्वारा प्रशंसित गुणोंका उच्चारण करें और (४) अपनी आयु श्रेष्ठोंके हितके लिये अर्पण करें।" ये चार भाव उक्त मंत्रमें हैं। इससे स्पष्ट होता है कि किस प्रकार बोलना और सुनना चाहिये। जिस समय 'मैं दीन हूं' ऐसा बोला जाता है उस समय ये शब्द सुने भी जाते हैं। बोलने और सुननेका आंतरिक मनपर पक्का असर हो जाता है। इसलिये सदा इस बातके विषयमें सावधान रहना चाहिये। वेदकी प्रार्थनायें इस विषयमें निश्चित मार्ग बता रहीं हैं, परंतु वेदके धर्ममार्गपर चलनेका उत्साह बतानेवाले भी पतित विचारमय प्रार्थनाओंसे ही अपनी प्रार्थना करते हैं। वेद कहता है कि—

स्वं महिमानमायजताम् ॥ यजु० २१।४७ ॥

(Let him worship his own majesty)

'अपने प्रभावका गौरव करो।' प्रत्येक मनुष्यमें कोई न कोई विशेष योग्यता अवश्य रहती है। उस अपने प्रभावशाली गुणकी खोज प्रथम करनी चाहिये। और उसका विस्तार करना चाहिये। उस गुणके लिये परमेश्वरकी अतुल कृपा समझनी चाहिये। और किसी समयमें भी अपने या दूसरे के बुरे आचार व्यवहारका स्मरणतक नहीं करना चाहिए। इस प्रकार निश्चयपूर्वक व्यवहार करनेसे एक मासके अंदर ही अपने मनकी वृत्ति शुद्ध हो सकती है। अनुभव लीजिये।

पुरुषार्थके लिये उत्साहमय प्रेरणा ।

भगवान ऐतरेय महीदास महामुनिकी उत्साहमय वाणीसे पुरुषार्थके लिये प्रेरणाका उपदेश ऐतरेय ब्राह्मणके सप्तम पंचिकामें हुवा है । मनुष्य अपनी उन्नति पुरुषार्थ प्रयत्नके बिना नहीं कर सकता यह सार्वकालिक सिद्धांत है । किसी समय मनुष्यके लिये पुरुषार्थ प्रयत्नकी आवश्यकता नहीं, ऐसा नहीं है । इस लिये हरएक मनुष्यको यह उपदेश स्मरण रखना योग्य है । किसी एक प्रसंगमें राजा हरिश्चंद्रके युवराज रोहितको भगवान इंद्रका उपदेश निम्न प्रकार हुवा है । जो ऐतरेय महीदासकृत ऐतरेय ब्राह्मणमें है—

नानाश्रांताय श्रीरस्तीति रोहित शुश्रुम । पापो नृषद्वरो जनः इंद्र इच्चरतः सखा । चरैवेति चरैवेति ॥ १ ॥

"हे रोहित राजपुत्र! (अ-श्रांताय) जो परिश्रम करके नहीं थक जाता उस सुस्त मनुष्य के लिये (श्रीः) धन, संपत्ति ऐश्वर्य प्रभुत्व आदि (न अस्ति) नहीं प्राप्त होता है। (इति शुश्रुम) ऐसा हम सुनते आये हैं । (नृ-षद्वरो जनः) जो मनुष्योंमें सुस्त होता है वही (पापः) पापी होता है। (इत्) निश्चयसे (इंद्रः) प्रभु (चरतः सखा) पुरुषार्थ प्रयत्न करनेवाले उत्साही मनुष्यका मित्र है । इसलिये (चर एव) पुरुषार्थ करो, निश्चयसे परम पुरुषार्थ करो ।

श्रीका अर्थ- धन, संपत्ति, ऐश्वर्य प्रभुत्व, उन्नति, अभ्युदय, महत्त्व, राजकीय शोभा, उच्च स्थिति, सौंदर्य, तेज, शोभा, शरीरकी उत्तम कांति, सद्गुण, बुद्धि, दैवीशक्ति, योगकी शक्ति, धर्म, अर्थ, काम, वक्तृत्व, यश, कीर्ति। यह सब उस श्रेष्ठ मनुष्यको प्राप्त होता है कि जो थक जाने तक महान् पुरुषार्थ

करता है। जो सुस्त मनुष्य सोता रहता है उसको आप पापी समझिए। सुस्ती, आलस्य, उद्योग न करना, निरुद्योगता, निकम्मेपन, आरामतलबी ये ही पाप हैं। जो निकम्मा रहता है वही पापी होता है। पुरुषार्थ करना ही पुण्य है। जो बडा प्रयत्न करता है वही धर्मात्मा और पुण्यात्मा मनुष्य है। परमेश्वर प्रयत्नशील पुरुषकी ही सहायता करता है। इसलिये हरएक मनुष्यको अवश्य प्रयत्न करना चाहिये। तथा—

पुष्पिण्यौ चरतो जंघे भूष्णुरात्मा फलग्रहिः। शेरेऽस्य सर्वे
पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः॥ चरैवेति चरैवेति॥ १॥

"जो (चरतः) चलता रहता है उसीकी (जंघे) जांघें (पुष्पिण्यौ) फूलकर पुष्ट होतीं हैं। पुरुषार्थी मनुष्यका आत्मा ही (भूष्णुः) अभ्युदय प्राप्त करनेवाला और (फलग्रहिः) फल मिलनेतक प्रयत्न करनेवाला होता है। इसके सब पापमार्गके बीचमें ही (श्रमेण हताः) परिश्रमके कारण नष्ट हो जाते हैं। इस लिये पुरुषार्थ करो, अवश्य निश्चयपूर्वक पुरुषार्थ करो।"

जो चलता है उसके पांव और जांघें बलवान और पुष्ट होतीं हैं, जो नहीं चलता, सदा बैठा रहता है उसके पांव कृश रहते हैं। जो हाथोंसे व्यायाम करता है उसीके बाहुओंमें पुष्टि और शक्ति बढती है जो व्यायाम नहीं करेगा उसके बाहु अशक्त रहेंगे। उसी प्रकार व्यायाम करनेसे सब शरीर पुष्ट और सुदृढ होता है। जो व्यायाम नहीं करते उनका शरीर निर्बल हो जाता है। इसलिये अपना शरीर पुष्ट, बलवान और निरोग बनाना अपने ही हाथ में है।

पुरुषार्थ करनेवालेके आत्मामें आत्मविश्वास रहता है। मैं अपनी उन्नति अवश्य प्राप्त करूंगा ऐसा विश्वास प्रयत्नशील पुरुषके अन्तकरणमें सदा रहता है। पुरुषार्थी मनुष्य कभी

हताश, निरुत्साही और उदास नहीं होता । हमेशा उत्साहकी धुंदमें प्रयत्न करता ही रहता है । इस लिये वही मनुष्य अन्तमें फलको अपनेही पास खेंच लेता है । कर्मोंका मधुर फल भक्षण करनेका उसीको सौभाग्य प्राप्त होता है । प्रयत्नके श्रमसे जो धर्मकी धारायें वहतीं हैं उन धाराओंसे उसके सब पापके मल धोये जाते हैं और वह निष्पाप बनता है । इतना परिश्रमका माहात्म्य है । इस लिये हर एक मनुष्यको चाहिये कि वह अवश्य परम पुरुषार्थ करके पवित्र बने ।

आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः । शेते
निपद्यमानस्य चराति चरतो भगः ॥ चरैवेति चरैवेति ॥५॥

"(आसीनस्य) जो बैठ रहता है उसका (भगः) ऐश्वर्य (आस्ते) बैठा रहता है । (तिष्ठतः) जो खडा रहता है उसका ऐश्वर्य ऊपर खडा रहता है । (निपद्यमानस्य) जो सोता रहता है उसका ऐश्वर्य भी (शेते) सो जाता है। और (चरतः भगः) पुरुषार्थ करनेवालेका ऐश्वर्य (चरति) उसके साथ चलता हुवा आता है । इस लिये पुरुषार्थ करो, निश्चयसे अवश्य पुरुषार्थ करो ।"

ऐश्वर्य धन प्रभुत्व आदि सब उसी मनुष्यको प्राप्त होते हैं कि जो सदा प्रयत्नकी पराकाष्टा करता है । आलसी मनुष्यको कभी ऐश्वर्य प्राप्त नहीं हो सकता । जो सोवेगा, उसका धन भी सोवेगा इसलिये हरएकको अवश्य परम पुरुषार्थ करके ऐश्वर्य आदि सब प्राप्त करने चाहिये ।

कोई देव आकर मुझे ऐश्वर्य देगा, ऐसा कभी हो नहीं सकता क्योंकि दैववादी आलसी मनुष्योंका धन और ऐश्वर्य सोता रहता है इस लिये वह उनके पास पहुंच नहीं सकता, जबतक कटिबद्ध होकर पुरुषार्थ नहीं करता तबतक उसका ऐश्वर्य उठकर उसके पास नहीं पहुंच सकता है । इसलिये सबको उत्तम

पुरुषार्थ करना उचित है।

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः॥ उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन्॥ चरैवेति चरैवेति ॥ ४ ॥

"(शयानः) सोना ही कलियुग (भवति) होता है। (संजिहानः) आलस्य छोड देना ही द्वापर युग है। (उत्तिष्ठन्) उठना त्रेतायुग होता है और (चरन्) पुरुषार्थ करना ही कृतयुग (संपद्यते) बन जाता है। इसलिये पुरुषार्थ करो निश्चयसे पुरुषार्थ करो।"

कई लोग अपने नुकसानीके कारण 'समय' को दोष देते हैं। परंतु 'समय' सबके लिये एक समान होता है। लोग कहते हैं कि यह कलियुग है इसमें ये दोष अवश्य हो ही जांयगे। परंतु वास्तविक बात ऐसी नहीं है। प्रत्येक समाज तथा प्रत्येक राष्ट्र अपने लिये अपने पुरुषार्थसे कलियुग अथवा सत्ययुग बना सकता है। आलस्यमें सडनेवालेके लिये सब समय कलियुग अर्थात् हीन अवस्थाका समय हो जाता है, जो आलस्य छोडकर उठकर पुरुषार्थ करनेके लिये कटिबद्ध होता है उसके लिये वही समय द्वापर और त्रेतायुग बन जाता है। तथा जो दृढ विश्वास और प्रबल उत्साहके साथ अपने पुरुषार्थकी पराकाष्ठा करता है उसके लिये हरएक समय प्रशंसनीय सत्ययुग, सुवर्णयुग अथवा उन्नतिका और आंनदका समय हो जाता है इसलिये सबको उचित है कि वे अपने अन्तःकरणोंको पुरुषार्थके ढांचेमें ढाल कर रखें, जिससे उनके अन्तर कभी आलस्य और उदासीनताकी लहर न उठे। तथा और कहा हैः—

चरन्वै मधु विंदति चरन्स्वादुमुदुंबरम्॥ सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तंद्रयते चरन् चरैवेति चरैवेति ॥ ५ ॥

(ऐतरेय ब्रा० ७।१५।१-५)

"मध मक्षिका (चरन्) निश्चयसे पुरुषार्थ करनेके कारणही (मधु विंदति) मधु-शहद-प्राप्त करती है। पक्षी (चरन्) भ्रमण करके ही (स्वादुं उदुंबरं) मीठे फलको प्राप्त करते हैं। (पश्य)देखो (सूर्यस्य श्रेमाणं) सूर्यकी शोभा इसी लिये है कि (यः) वह (चरन्) भ्रमण करता हुआ भी (न तंद्रयते) नहीं थकता। इसलिये पुरुषार्थ करो, निश्चयसे पुरुषार्थ करो।"

पशुपक्षी, कीटपतंग, मक्खियां और सब प्राणी पुरुषार्थ करकेही अपने उपभोगोंको प्राप्त करते हैं। प्रयत्नके विना किसीकोभी कुछ नहीं प्राप्त हो सकता। इसलिये सबको पुरुषार्थ करना उचित है।

इस प्रकार पुरुषार्थ प्रयत्नकी महिमा ऐतरेय ब्राह्मणमें वर्णन की है। यही वैदिक पुरुषार्थके मार्गका दृश्य है। वैदिकधर्ममें रहनेवालोंमें थकावट, सुस्ती, आलस्य, उदासीनता आदि दुर्गुण नहीं चाहिये। वैदिकधर्म उत्साहमय पुरुषार्थका धर्म है। व्यक्तिकी उन्नतिके लिये पुरुषार्थ, समाजकी भलाईके लिये पुरुषार्थ, राष्ट्रके हितके लिये पुरुषार्थ, सब जनताके अभ्युदयके लिये पुरुषार्थ कीजिये। उठिए अब बहुत देर हो गई है।

शत्रु कौन है?

मनुष्यका शत्रु कौन है? व्यक्तिका और समाजका दुश्मन कौन है? किसको सच्चा शत्रु कहना योग्य है? वेदकी दृष्टिसे सच्चा शत्रु कौन है? हरएक मनुष्य अपने मतसे विरुद्ध मत धारण करनेवालेको शत्रु कहते हैं; क्या विरुद्ध मत धारण करना शत्रुत्वका लक्षण हो सकता है? इस विषयमें वेदकी क्या संमति है? शत्रुका लक्षण धार्मिक दृष्टिसे होनेके पश्चात् ही उसको पहचाना जा सकता है, और उसके दूर करनेका उपाय भी किया जा सकता है। इसलिये इस लेखमें मनुष्योंके शत्रुका विचार किया जाता है। वेदमें कहा है कि—

दुःशंसो मर्त्यो रिपुः ॥

ऋ० २।४१।८; यजु० २०।८२

"दुष्ट बुद्धिका मनुष्य ही शत्रु कहा जाता है।" इस मंत्रके तीनों शब्दोंका भाव देखना उचित है—

(१) दुःशंसः— Evil-minded, malevolent, wicked, malicious, दुष्ट विचार करनेवाला, दुश्मन्, द्रोही, बुरा चाहनेवाला, अदावती, कुटिल, कटुआ, कपटी, दुष्ट, अहित करनेवाला, कुकर्मी, बुरा, अपावन, लुच्चा, शरारती, अपराधी, घातकी। "दुःशंस" का यह भाव है।

(२) मर्त्य—मरनेवाला mortal, मरनेकी ओर चलनेवाला।

(३) रिपुः— Deceitful, treacherous, false, cheat, rogue, enemy, adversary कुटिल, धोखेबाज, छल करनेवाला, बेइमान, छली, झूठा, अधर्मी, विश्वासघातकी, दुर्जन, विरोधी,

शत्रु, प्रतिकूल, क्रूर, आक्रमण अथवा हमला करनेवाला ।

ये तीनों शब्दोंके सब भाव एकत्रित करनेसे शत्रुका वैदिक लक्षण बन जाता है। जिनमें ये सब दुष्टभाव अथवा इनमेंसे एक एक भाव होगा उनको शत्रु कहना उचित है। इन दुष्ट भावोंको धारण करनेवाले आदमियोंके साथ कभी सहवास अथवा संग करना उचित नहीं। जो मनुष्य अपनी उन्नति चाहते हैं, उनको उचित है, कि वे इस प्रकारके दुराचारियोंसे सदा दूर रहें, इन दुष्टोंका विचार न करें, और सदा अपना मन इन दुष्ट भावनाओंसे दूर रखें। वेद कहता है कि—

मा नो दुःशंस ईशत ॥

ऋ० १।२३।९; १०।२५।७ अथर्व० १९।४७।६

(Let not the wicked master us) दुष्ट हमारा स्वामी न बने। इस विषयमें सदा सावधान रहना चाहिए कि, हम कभी दुष्टके आधीन न हो जावें। व्यक्तिमें मन, इंद्रिय आदि पदार्थ दुष्ट भावोंके आधीन न हो जावें। मनुष्य बुरे विचार कभी न करे, बुरे शब्द कभी न बोले, और बुरे कर्म कभी न करे। समाजमें दुष्ट दुराचारियोंको बडे बडे ओहदोंपर न रखा जावे। सभाओं और परिषदोंमें दुष्टोंको अधिकार न दिया जावे, पाठशाळा आदि स्थानोंमें दुष्ट दुराचारी न रहे तथा किसी सार्वजनिक स्थानमें दुष्टका सन्मान न किया जावे। सदा सर्वदा सर्वत्र अर्थात् किसी भी समय समाजोंपर दुष्टोंका अधिकार न होवे, क्यों कि जो दुष्टोंके आधीन हो जांयगे वे भी दुष्ट बन जाएँगे। जो दुराचारियोंका सन्मान करेंगे वे गिर जायँगे। जो नीचोंके सन्मुख सिर नीचा करेंगे वे अधोगतिको पहुंचेंगे। इसलिये वेदमें कहा है—

मा नो दुःशंसो अभिदिप्सुरीशत ॥
प्र सुशंसा मतिभिस्तारिषीमहि ॥
ऋ० २।२३।१०

(Let not the guileful wicked man be lord of us)
(अभिदिप्सुः दुःशंसः) घातकी दुष्ट मनुष्य हमारा स्वामी न बने। और हम सब (मतिभिः) उत्तम मनन शक्तियोंके द्वारा (सुशंसाः) प्रशंसित बनकर (प्रतारिषीमहि) बढेंगे।

इस मंत्रमें "दुःशंस" (wicked) की निंदा और "सुशंस" अर्थात् सदाचारीकी प्रसंसा की है। दुष्टकी हुकूमतमें रहनेसे नाश होता है, दुष्टके आधीन होनेसे सर्वस्वका घात होता है,दुष्टके शासनके अनुसार चलनेसे सबका ही नाश हो सकता है। यदि किसी प्रकार उन्नति होनी है, तो उसका एकही मार्ग है, कि मनमें उत्तम विचार धारण करना और सदाचारीके साथ मित्रता करना। सज्जनके सख्यमें रहनेसे ही उन्नति हो सकती। अभ्युदय अथवा उत्कर्ष प्राप्त करनेका यही सच्चा और सीधा मार्ग है। इसी रीतिसे प्रगति करनेसे ऐहिक अभ्युदय और पारलौकिक निश्रेयस निश्चयसे प्राप्त हो सकता है। इस विषयमें निम्न मंत्र देखिए—

समित्तमघमश्नवद्दुःशंसं मर्त्यं रिपुम् ॥
यो अस्मत्रा दुहणावां उपद्वयुः ॥
ऋ० ८।१८।१४

" जो (दुःशंसं) दुष्ट दुराचारी, (मर्त्यं रिपुं) नाशको प्राप्त होनेवाला और घातपात करनेवाला होता है (तं इत्) उस दुष्टको ही (अघं सं अश्नवत्) पातक लगता है। जो मनुष्य (द्व-युः) (Duplicity) धोखा छल कपट करता हुआ होते

सबके विषयमें (दुः-हनावां) घातपात करनेकी इच्छा रखता है वह भी पापी होता है ।"

इस मंत्रमें " दुःशंस, मर्त्य, रिपु, दुर्हणावान्, द्वयुः " आदि शब्दोंद्वारा पापी शत्रुओंका स्वरूप वर्णन किया है । पहिले तीन शब्दोंका अर्थ इस लेखके प्रारंभमें दिया ही है, अब यहां और दो शब्दोंका भाव बताया जाता है ।

(१) दुर्हणावां— (दुः+हना-वान्)=क्रूरताके साथ घातपात और नाश करनेवाला । mischief, harm, damage, evil, trouble, calamity, बिगाड, आपदा, हानि, दुःख, कष्ट, संकट, दुरवस्था इत्यादि भाव " दुः-हना " शब्दके हैं । इन कष्टोंको बढानेवाला जो होता है वह इस शब्दसे बोधित होता है ।

(२) द्व-युः—दो प्रकारकी कुटिल नीतिका योजना करनेवाला । False, dishonest, duplicity, donbleness of heart or speech, double dealing, dissimulation, deceit असत्य अप्रामाणिक, हृदयमें कुछ और बाहर कुछ ऐसा करने और बोलनेवाला, कपटी, दंभी, बहाना करनेवाला, मक्कार, ढोंगी ।

द्व-युः

Du-plicity

ये दो शब्द समान भाव बताते हैं । मनमें घात पात करनेका विचार करते हुए बाहिर अत्यंत मीठा और सरल भाषण करना; इस प्रकारकी कुटिल नीतिमें प्रवीण मनुष्य " द्व-युः " कहा जाता है । यह न केवल पापी है, परंतु सबका नाश करनेवाला यही है; इसी लिये वेद इनको " जनताका शत्रु " कहता है । ये ही दुष्ट मनुष्य वेदकी दृष्टिसे जनताके शत्रु हैं । तथा—

रक्षा मा किर्नो अघशंस ईशत ॥ मो नो
दुःशंस ईशत ॥ मा नो अद्य गवां स्तेनो
माऽवीनां वृक ईशत ॥ अथर्व० १९।४७।६

(Let not a malicious, spiteful, ill-wisher master us)
(किः अघशंसः) कोई भी पापी दुष्ट हम सबपर शासन न करे। कोई दुराचारी हमारेपर हुकूमत न चलावे। (गवां स्तेनः) गाय, भूमि, वाचा आदि पदार्थोंकी चोरी करनेवाला हमारा स्वामी न बने। तथा (अवीनां वृकः) बकरियों, संरक्षकों और गरीबोंका भेडिया कभी स्वामी न बने। अर्थात् गरीबोंका संहार करनेवाला कभी बडा अधिकारी न बने।

इस मंत्रके शब्दोंके भाव विशेष विचार करने योग्य है इनका विचार करनेसे शत्रुरूप भावोंका पता लग सकता है, देखिये—

(१) रक्षाः-(रक्षस् = र-क्षः) अपने रमने अर्थात् भोगके लिये दूसरोंका क्षय करनेवाले जो होते हैं वे शत्रु हुआ करते हैं। 'र" रमना, भोगना, अपनी खुशीके लिये प्रयत्न करना, (love, desire) प्रेय मार्गसे चलना। "क्ष" दूसरोंका क्षय करना, दूसरोंका नाश करना। अपने भोगके लिये दूसरोंका नाश करना, दूसरोंके सर्वस्वका अपहरण करके अपना सुख बढानेका प्रयत्न करना। यह राक्षसोंका लक्षण है। "क्षर्" धातुसे अक्षरोंकी अदलबदल करके "रक्षः" शब्द बनाया जाता है। इस प्रकार इसका अर्थ निम्न प्रकार बनता है-नाशका व्यवहार करनेवाले, निरर्थक प्रयत्न करनेवाले, घातक प्रवृत्ति धारण करनेवाले।

(२) अघ-शंसः= पापकी ओर प्रवृत्ति रखनेवाला, निंदित कर्म करनेवाला पापी कर्मके लिये ही जिसकी बदनामी होती

है। अर्थात् जो सदा बुरा कर्म करता रहता है वह मनुष्योंका शत्रु है।

(६) गवां-स्तेनः=इस शब्दका अर्थ " गायकी चोरी करनेवाला है। परंतु इस शब्दमें अर्थका विशेष भाव भी है। "गो" शब्दके अनेक अर्थ हैं- गौ, गाय, दूध, घी, चमडा, प्रकाश, रत्न, हीरा, बाण, भूमि, शब्द, वाणी, वाचा, वक्तृत्व, सरस्वती (सभ्यता), जल, घर। इत्यादि पदार्थोंका अपहार करनेवाला शत्रु समझा जाता है।

(४) अवीनां वृकः—इन शब्दोंका अर्थ "बकरियोंका संहार करनेवाला भेडिया" ऐसा है।परंतु इन शब्दोंका आंतरिक भाव (१) अशक्तोंका घातपात करनेवाला, (२) गरीबोंका नाश करके उनके सर्वस्वका अपहार करके अपना पेट भरनेवाला, (३) दीन और दुर्बलोंका भक्षक, इत्यादि होता है। "अवि" का अर्थ—प्रगति और प्रेम करनेवाला, Favourable dispostion दयालु स्वभाव धारण करनेवाला, Kind प्रेम और प्रीति करनेवाला दयालु, promotor वृद्धि करनेवाला, animater उत्साहक वर्धन करनेवाला; a mountain पहाड, पर्वत; air, wind हवा, वायु, a master स्वामी, अधिकारी, राजा, सरदार। इनका क्रूरताके साथ घात करनेवाला शत्रु कहा जाता है।

ये सब शत्रुओंके लक्षण पूर्वोक्त लक्षणोंमें संमिलित करना उचित हे। इन सब लक्षणोंको एकत्रित करनेसे ही मानवी जातिके सच्चे शत्रुकी निश्चित कल्पना स्पष्ट हो सकती है। शत्रुके सब लक्षणोंमें " अवीनां वृकः" अर्थात् 'निर्बलोंका घात करनेवाला' यह एक लक्षण मुख्य है। हीन वृत्तिकी पराकाष्टा इसमें है। जो निर्बल होते हैं, उनका संरक्षण करना बलवानोंका धर्म है।

परंतु यदि बलवान ही निर्बलोंको खाने लगेंगे तो उनमें धर्म कहां रहेगा? निर्बलोंका घात करनेकी पशुओंमें प्रवृत्ति है मनुष्योंको इस प्रवृत्तिका धारण करना उचित नहीं है। तथापि स्वार्थवश होकर मनुष्योंमें कई दुर्जन "वृक" अर्थात् भेडिये बन जाते हैं और अशक्तोंको खा जाते हैं.उनके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिए, इसका वर्णन निम्न मंत्रोंमें किया है—

वधैर्दुःशंसां अप दूढ्यो जहि दूरे
वा ये अन्ति वा केचिदत्रिणः॥

ऋ. १।९४।९

"(दुःशंसान्) बुरा भाषण करनेवाले, (दू–ढ्यः=दुःधियः) दुष्ट विचार करनेवाले, और (अत्रिणः) स्वार्थसे अपने भोग भोगनेवाले जो (दूरे अन्ति वा) कोई दूर अथवा पास होंगे उन सबका (वधैः अप जहि) हनन करो।"

इस मंत्रमें पूर्वोक्त अपराधियोंको वधका दंड कहा है। अपराधियोंके नाम और भाव नीचे दिये हैं—

(१) दुःशंसः=(दुः) बुरा (शंसः) भाषण करनेवाला, असत्य बोलनेवाला, वाणीसे दूसरोंकी हिंसा करनेवाला। इस शब्दके अन्यभाव पूर्वस्थलमें दिये हैं।

(२) दूढ्यः=(दुः+धियः)=दुष्ट विचार करनेवाले, जिनकी बुद्धि घातपातके विचार करती रहती है (Evil-minddd)

(३) अत्रिन्= (Devouer) भक्षोसनेवाला, हडप कर जानेवाला; उजाड करनेवाला सत्यनाश करनेवाला, खाकमें मिलानेवाला। दूसरेका घात करके अपना पेट भरानेवाला। अत्यंत भोग भोगनेवाला विषयलोलुप। भोग भोगनेके लिये ही जीवन धारण करनेवाला।

ये सब दुष्ट हैं और वेदकी दृष्टिसे ये सब अपराधी वधके लिये योग्य हैं। तथा—

तावद्दुःशंसं मर्त्यं दुर्विद्वांसं रक्षस्विनम् ॥
आ भोगं हन्मना हतम् ॥

ऋ० ७।९४।१२

"(दुःशंसं) बुरा भाषण करनेवाले, (दुःविद्वांसं) दुष्ट ज्ञान धारण करनेवाले, (र-क्ष-स्विनं) अपने रमण अर्थात् भोगके लिये दूसरोंका क्षय करनेवाले, (आ-भोगं) सब प्रकारसे अपने भोगोंका फिक्र करनेवाले (मर्त्यं) मरने योग्य दुष्ट दुर्जनको (हन्मना) हननके विचारसे (हत्‌हतं) निश्चयपूर्वक हनन कीजिये।" इस मंत्रमें दो तीन शब्द विचार करने योग्य हैं।—

(१) दुर्विद्वान् — (दुः-विद्वान्)—दुष्ट विद्याका धारण करनेवाला, दुष्ट विचार करनेवाला, विद्याका बुरा उपयोग करनेवाला, अपने ज्ञानसे दूसरोंका घात करनेवाल।दुष्ट-विद्वान्।

(२) रक्षस्विन्—(र-क्ष-स्विन्) रमनेके लिये क्षय करनेवाला। अपनी खुषीके लिये दूसरोंका नाश करनेवाला। दूसरोंके नाशसे खुश होनेवाला।

(३) आ-भोगं—सब प्रकारसे अपने भोग बढानेका सतत यत्न करनेवाला, भोगोंके तरफ ही जिसका सदा लक्ष्य होता है, भोग भोगनेके लिये ही सब कुछ करनेवाला।

इन शब्दोंमें "दु-र्विद्वान्" शब्द विशेष मनन करने योग्य है। "सु-विद्वान" और "दुर्विद्वान्" ये दो शब्द परस्पर विरोधी भावोंको बताते हैं। विद्या एक बडी भारी शक्ति है। उस बडी

शक्तिको जो बुरे कार्योंमें लगाता है वह बडा भारी अपराधी होता है। अविद्वान् शत्रुकी अपेक्षा विद्वान् शत्रु बहुत बुरा होता है। विद्याके सामर्थ्यसे उसकी शक्ति बहुत ही बडी होती है। इस लिये दुष्ट-विद्वान् अथवा दुर्विद्वान् समाजकी दृष्टिसे अपराधी है। तात्पर्य केवल ज्ञान अथवा विद्या प्राप्त करनेसे कार्यभाग नहीं हो सकता, परंतु प्राप्त किये ज्ञानसे लोगोंका कभी घात नहीं करना चाहिए, सबकी उन्नतिका उपाय करनेमें अपने ज्ञानका समर्पण करना चाहिए। तथा—

> यो नः सोम सुशंसिनो दुःशंस आदिदेशति ॥
> वज्रेणास्य मुखे जहि स संपिष्टो अपायति ॥

अथ. ६।६।२

"(यः दुःशंसः) जो दुष्ट मनुष्य (सु-शंसिनः नः) उत्तम विचारोंसे युक्त रहनेवाले हम सबको (आ-दिदेशति) आदेश करने लगेगा, (अस्य मुखे वज्रेण जहि) उसके सिरपर शस्त्र चलाओ, (संपिष्टः स अपायति) चूर्ण होनेसे ही वह दूर होता है।"

जो दुर्जन सज्जनोंको अपने आधीन रखता है और उनको मनमाने हुकूम करता है और इस प्रकार सज्जनोंको कष्ट पहुंचाता है वह वधके दंडके लिये योग्य है।

मानव जातिके शत्रुओंका वर्णन वेदमें इस प्रकार आया है। इन् मंत्रोंका शांतिके साथ विचार करनेसे दुष्ट दुर्जनोंके लक्षण ज्ञात हो सकते हैं। प्रत्येक मनुष्यमें ये भाव नहीं रहने चाहिएँ, क्योंकि इन दुष्ट भावोंको मनमें धारण करनेसे आत्माकी अवनति हो सकती है। इन दुष्ट कामनाओंको दूर करनेसे ही मनुष्यकी उन्नति हो सकती है। समाजके अभ्युदयके लिये ही यही नियम है। समाजमें उक्त प्रकारके बुरे भाव धारण करनेवाले मनुष्य

नहीं होने चाहिए। सुशिक्षाके प्रचारद्वारा सब मनुष्योंको सुसंस्कारसंपन्न बनाना चाहिए। और उनके मन पवित्र, शुद्ध और श्रेष्ठ बनाना चाहिए। इस प्रकार व्यक्ति की और समाज अथवा राष्ट्रकी उन्नतिका राजमार्ग है। जो इस मार्गपरसे चलेगा वही पार हो सकता है। परंतु जो दुराचारी बनकर अपने आपको उक्त दुष्ट व्यसनी लोगोंमें सम्मिलित कर लेगा, उसकी तो अवश्य ही अधोगति होगी, परंतु जिस समाज अथवा जातिमें वह रहता होगा उसकी भी अवनति होगी। इसलिये इस लेखमें दिये दुष्ट लक्षणोंसे अपने आपका बचाव करके अपने अन्दर श्रेष्ठ सद्गुणोंकी वृद्धि करना हरएकका कर्तव्य है। आशा है कि सब लोग अपना कर्तव्यपालन करके अपनी जातिकी उन्नति करके संपूर्ण जगतके मार्गदर्शक बनेंगे।

विजय प्राप्त करनेकी कला।

अजीताः स्याम शरदः शतं ॥ तै. आ. ४।४२।५
अदीनाः स्याम शरदः शतं ॥ यजु. अ. ३६।२४

"हम सब सौ वर्षपर्यंत पराजित न होते हुए जीवित रहें, तथा हम सब सौ वर्षपर्यंत अदीन अर्थात् उत्साही जीवनसे युक्त रहें।" यह वैदिक धर्मकी आकांक्षा प्रसिद्ध है। हर एक मनुष्यको उचित है, कि वह सदा ऐसे पुरुषार्थ करता रहे, कि जिससे वह कभी पराजित न हो सके। पराजय होनेसे सब प्रकारकी आपत्तियाँ प्राप्त होती हैं। पराजितोंको ही सब कष्ट भोगने पडते हैं। पराजितोंके सद्गुण बुरे समझे जाते हैं, और विजयी लोगोंके दुर्गुण अनुकरणीय समझते हैं। विजयका इतना प्रभाव है। इसलिये विजय प्राप्त करनेका यत्न हरएकको करना उचित है। विजय किस प्रकार मिलता है इस प्रश्नके उत्तरमें वेद कहता है,—

अप्रतीतो जयति सं धनानि प्रतिजन्यान्युत या सजन्या।
अवस्यवे यो वरिवः कृणोति ब्रह्मणे राजा तमवन्ति देवाः ॥

ऋ. ४।५०।९

जो (अ-प्रति-इतः) पीछे नहीं हटता वह पुरुषार्थी मनुष्य ही (जयति) विजय प्राप्त कर सकता है। वही (प्रतिजन्यानि) व्यक्तिविषयक तथा (सजन्या) समूह अथवा समाजविषयक (धनानि) धनोंको (सं जयति) विजयसे प्राप्त करता है। (यः) जो राजा (अवस्यवे) अपना रक्षण करनेवाले (ब्रह्मणे) ज्ञानीको ही (वरिवः) सहायता (कृणोति) करता है,

(तं देवाः अवन्ति) उसीका देव रक्षण करते हैं ॥

इस मंत्रमें विजयकी कुंजी रखी है। (१) जो पीछे नहीं हटता वही विजय प्राप्त करता है। यह मंत्रका पहिला विधान है।—

प्र	- इत	प्रति	- इत
प्र	- गति	प्रति	- गति
Pro	- gress	Back	- going
आगे	- बढना	पीछे	- हटना

'प्र-इत और प्रति-इत' ये दो शब्द वेदमें वारंवार आते हैं पहिला उन्नति और अभ्युदयका दर्शक है और दूसरा अवनति अथवा पीछे हटनेका दर्शक है। जो पीछे नहीं हटता अर्थात् जो अपने स्थानपर स्थिर रहता है, (युधि-ष्ठिर) जीवन कलहके घनघोर युद्धमें जो न डरता हुवा अपने स्थानसे पीछे नहीं भागता, अथवा जो अपने पुरुषार्थके साथ आगे बढता है, वही विजय पाता है। परंतु जो जीवन-कलहमें पीछे रहेगा वह गिरेगा। इस लिये निर्भयताके साथ आगे बढनेकी तैयारी करना सबको उचित है।

आगे बढनेका तात्पर्य यहां मनुष्यके उन्नतिके सब भूमिकाओंमें उन्नति प्राप्त करनेसे है। आत्मिक, बौद्धिक, मानसिक इंद्रिय-विषयक, शारीरिक वैयक्तिक तथा सामाजिक अथवा सर्व राष्ट्रीय प्रयत्नोंमें सर्वप्रकारके पुरुषार्थोंके साथ आगे बढनेका संदेश [अ-प्रति-इतः] " अप्रतीतः " इस शब्दद्वारा वेदने सब लोगोंको पहुंचाया है। जो सुनेंगे और जो इस आदेशके अनुसार अपना आचरण करेंगे वेही विजयी और यशस्वी हो सकते हैं। जो सुनते हुए आचरण नहीं करेंगे वे गिर जायँगे।

(२) अब आप सचाईपर रहेंगे, अपने शब्दको सदा सत्यसे

पूर्ण रखेंगे, प्रामाणिकता, सीधा सरल व्यवहार और उन्नत आचरणसे आप पवित्र बनेंगे; (२) शुद्ध संस्कारोंसे युक्त रहनेका आप प्रयत्न करेंगे, उन्नति और अभ्युदयके लिये ही सदा पुरुषार्थ करेंगे, जगतका सुधार करनेके लिये स्वयं अपने आपको अर्पण करेंगे, लोगोंको उच्च, श्रेष्ठ और अधिक पवित्र भूमिकामें पहुंचानेके लिये जब आप अपनी पराकाष्ठा करेंगे; (३) जब आप निर्भयतासे कार्य करेंगे, भीतिसे दूर रहेंगे, सत्कर्म करनेके लिये किसीसे नहीं डरेंगे, अपनी पूर्णता करनेके लिये अहर्निशि प्रयत्न करेंगे; (४) जब आप ऐश और आरामकी पर्वा छोड कर, सुस्तीको दूर करके, अपने ही इंद्रियोंके सुखोंमें मस्त न होंगे, तथा श्रेष्ठ कार्य करनेके लिये योग्य स्वार्थत्याग आनंदके साथ करेंगे; (५) संदेहको दूर करके निश्चयात्मक बुद्धिसे सतत पुरुषार्थ करेंगे, सोचने विचार करनेमें ही जब आप अपना सब समय न गमायेंगे, परंतु सोच विचारपूर्वक कार्य करनेके लिये सदा तत्पर रहेंगे, (६) जब आप विजयी पुरुषवीरोंके समान अपने विचार प्रकट करेंगे अपना चालचलन शूरोंके समान उदात्त करेंगे अपने कार्य धैर्यशील उदार चरितोंके समान करेंगे अपने सब खूनमें विजयकी ध्वनि कूट कूट कर भर देंगे; (७) जब आप विजयी पुरुषोंके चरित्र पढेंगे, उनके गीत गायेंगे, उनके समान बननेका यत्न करेंगे, उनके चरित्र दूसरोंको सुनायेंगे, तथा उनके जीवनोंमें प्रेममय भक्ति रखेंगे; (८) जब आप श्रेष्ठ पुरुषोंकी संमति आदरके साथ विचार कोटिमें लेंगे, अपनी निंदा स्तुतिकी पर्वाह न करते हुए योग्य कार्य दक्षतासे, करेंगे; (९) जब कष्ट और आपत्तियाँ आजायँगीं तब न डरते हुए बडे विलक्षण धैर्यके साथ अपना ही योग्य धार्मिक सत्कार्य चलाते रहेंगे, (१०) जब आप दैवका विचार न करते हुए, पुरुषार्थका ही ख्याल मनमें धरेंगे,

सत्कार्य करते हुए यदि सब दुनिया आपके विरुद्ध हो गई तो भी जब नहीं डरेंगे; (११) अपने पुरुषार्थके बलपर जब आप निर्भर रहेंगे; सत्कार्य करते हुए यदि विष आपको प्राप्त हुवा तो भी यदि आप निर्भयतासे उसको स्वीकार करनेके लिए तैयार होंगे; (१२) जब आप अच्छे नागरिक, भले पडोसी, उत्तम राष्ट्रहितैषी, और मानवी हितका कार्य करनेमें तत्पर बनेंगे, (१३) अपने सुविचार प्रकट करने और अपना जीवन विशेष उच्चप्रकारसे व्यतीत करनेके लिये जब आप किसीसे नहीं डरेंगे, (१४) जब अपने आपको पूर्ण धैर्यवान मानेंगे, अपनी वैयक्तिक उच्चताकी सिद्धता करनेका सुविचार करेंगे, अपने आपको गिरा हुवा न मानेंगे; (१५) जब आप अपनी इंद्रियोंका शमन और दमन करेंगे, उनको स्वाधीन रखेंगे. आप अपनी शक्तियोंके प्रभु बनेंगे सब दुष्टभावोंको दूर करेंगे; (१६) जब आप सदा उच्च विचार उच्चार और आचारको ही पसंद करेंगे, उच्च आकांक्षा धरेंगे और अभ्युदयके मार्गसे चलेंगे; (१७) जब आप अपना जीवनका सुधार करनेका दृढ निश्चय करेंगे, जीवन कलहमें सत्यके साथ आगे बढेंगे, अपना आदर्श जीवन बनानेका यत्न करेंगे; (१८) जब आप उत्साह, उल्लास और आनंद अपने चेहरेपर सदा रखेंगे; अपना वायुमंडल उत्साहपूर्ण बनायेंगे और अपना घर, पोशाक और अपने अन्य पदार्थ उल्लासपूर्ण सदा रखेंगे; (१९) जब आप सुधारके मार्गसे प्रगति करेंगे, और हीन मार्गसे दूर रहेंगे; (२०) जब आप द्वेष, मत्सर, और दूसरेकी निंदा न करते हुए दूसरोंके उत्तम गुणोंका ही विचार करेंगे; (२१) अपने निश्चित विचारसे इधर उधर न भटकेंगे, अपने मार्गमें ही सुदृढ विचारसे चलेंगे; (२२) सबसे श्रेष्ठ पुरुषार्थ करके सबसे श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त करनेके लिये जब आप

दृढ विश्वाससे प्रयत्न करेंगे; (२३) जब आप जगत्की ओर पूर्णताकी भावनासे देखेंगे, और दोषकी दृष्टिसे ही सब दुनियाकी ओर देखना छोड देंगे; (२४) जब आप निश्चयका बल धारण करके बंधनोंको तोडनेका प्रबल यत्न करेंगे; (२५) जब आप सत्य तत्वोंके प्रेमसे कार्य करेंगे और छोटे मोटे प्रलोभनोंमें न फँसेंगे; (२६) जब आप सदा सर्वदा अविचारसे दूसरोंका अनुकरण न करेंगे, परंतु अपनी बुद्धिसे अपनी स्वतंत्रताका मार्ग ढूँढेंगे; (२७) जब आप उचितको निकट और अनुचितको दूर करनेमें धैर्य बतायेंगे, 'न' कहनेके समय 'हां' नही करेंगे,और 'हां' कहनेके समय 'न' नहीं कहेंगे, दूसरोंकी मोहब्बतसे अपना सत्यमार्ग न भूलेंगे; (२८) धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके कर्तव्योंमें जब आप सदा आगे ही बढते जायंगे; (२९) परमात्माकी भक्तिसे अपने अंतःकरणोंको पवित्र रखेंगे; (३०) जब आप हृदयसे न डरेंगे, मनमें विश्वास रखेंगे, और आत्मामें बल रखेंगें; (३१) 'मैं अवश्य विजय प्राप्त करूंगा' ऐसी ही भावना जब मनमें दृढ करेंगे, (३२) शरीर, मन आदि अपने साधनोंको जब एक ही श्रेष्ठ पुरुषार्थमें लगायेंगे; (३३) जब आप अपने आपको परमेश्वरके अंदर समझकर पूर्ण विश्वाससे कार्य करेंगें; तब आप आगे बढ सकते हैं और आगे बढनेसे विजय प्राप्त कर सकते हैं।

इससे आप और अधिक सोच कर अपने काया वाचा मनकी शुद्धि करने, अपने आपको योग्य बनाने और पूर्ण विजय प्राप्त करनेका मार्ग ढूँढ सकते हैं। सोचिए और सीधे मार्गको प्राप्त करके उसपर चलिए।

उक्त मंत्रमें (प्रतिजन्य धन) वैयक्तिक धन तथा (सजन्य धन) समुदाय, समूह, संघ, अथवा समाजका धन, ऐसे दो प्रकारके

धन कहे हैं । उन्नति, अभ्युदय, विकास आदि सब दो प्रकारका होता है । एक मनुष्यके संबंधसे जो उन्नति आदि है उसको वैयक्तिक, व्यक्तिविषयक, प्रतिजन्य, प्रत्येक जनके संबंधमें (Individualistic) कहा जाता है । तथा जो अभ्युदय सब जनताके संबंधमें होता है उसको सामुदायिक, सामाजिक सजन्य संपूर्ण जनोंके संबंधमें, राष्ट्रीय, समाज अथवा जातिके संबंधमें, (Socialistic) कहते हैं । देखिए—

व्यक्ति	समाज
मनुष्य	संघ
प्रति-जन	स-जन
प्रति-जन्य	स-जन्य
अ-संभूति	सं-भूति
Individual existence	United existence

यजु० अ० ४० अथवा ईशोपनिषदमें संभूति और असंभूतिका विचार आगया है । वहां कहा है कि " जो केवल व्यक्तिकी उन्नति करनेमें मस्त रहते हैं, वे गिर जाते हैं, तथा जो केवल सामाजिक सुधारमें हो लग जाते हैं वेभी गिर जाते हैं व्यक्तिकी उन्नतिका एक विशेष महत्त्व है, और समाजके सुधारका एक विशेष महत्त्व है । इस बातको जान कर जो दोनों प्रकारके सुधारको साथ साथ करते जाते हैं, वे व्यक्तिकी उन्नतिसे दुःखको दूर करके सार्वजनिक अभ्युदयसे अविनाशी स्वातंत्र्यको प्राप्त करते हैं । " अर्थात् व्यक्तिका अभ्युदय और सार्वजनिक निश्रेयसका साधन करना वैदिक धर्मका मुख्य उद्देश है जो इस उद्देशको छोड देते हैं वे अवनत होते हैं । इस लिये इस मंत्रमें विजय प्राप्तिके उपदेशमें 'प्रतिजन्य और सजन्य' अर्थात् एक

एककी और संघकी उन्नतिका समावेश किया है। यहां धनका तात्पर्य 'धन्यताका साधन' है, न कि रुपया आना पाई। जिससे मनुष्य अपने आपको धन्य समझ सकता है वह उस मनुष्यके लिये उस समय धन होता है। इस लिये धन्यताके सब साधन धन ही हैं।

वैदिक धर्ममें रहता हुवा जीता जागता सुविचारी सदाचारी और सच्छील मनुष्य व्यक्तिके और जातिके सुधारके विचारोंसे दूर नहीं रह सकता। वर्णाश्रम धर्ममें सब जातीय व्यवस्था ही है ब्रह्मचर्य और गृहस्थ ये दो आश्रम व्यक्तिके सुधारके हैं। गृहस्थमें जनताके विचारोंका प्रारंभ होता है, तथा वानप्रस्थ और संन्यास ये दो आश्रम केवल जनताकी उन्नति करनेके ही हैं। व्यक्तिके स्वार्थको छोडना और जनताकी भलाई करनेका विचार मनमें दृढ करना, यही संन्यासका तत्व है। जनतात्माकी सेवा करना ही संन्यास धर्म है। चार वर्णोंके धर्ममें तो प्रसिद्धिसे ही सार्वजनिक सुव्यवस्थाका मार्ग है। इस लिये उसका विचार करनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं। इस कारण सब वैदिक-धर्मियोंको उचित है कि वे जिस प्रकार अपने सुधारका विचार करते हैं, उसी प्रकार वे जनताका अथवा जातिका भी अवश्य विचार करें। क्योंकि जबतक दोनों उन्नतियोंकी प्राप्ति न होगी तबतक धर्मकी पूर्ण सिद्धि प्राप्त होना असंभव है।

पूर्वोक्त मंत्रके उत्तर चरणमें 'अवस्युः ब्रह्मा' ये शब्द आये हैं। 'अवस्यु' का अर्थ– संरक्षण, हलचल, प्रेम समाधान, शांति, ज्ञान, प्रवेश, श्रवण, स्वामित्व, विनती, पुरुषार्थ, इच्छा, प्रकाश, प्राप्ति, ऐक्य, स्वीकार, अस्तित्व, वृद्धि और विरोधका परिहार करनेवाला है। ये उत्तम कार्य मनुष्यके अभ्युदयके साधक हैं।

पाठक यहां विचार करें कि इन उन्नीस कार्योंसे मानवी उन्नति किस प्रकार सिद्ध हो सकती है। मनुष्य मात्रके सब हलचलके प्रयत्न जो व्यक्तिकी उन्नतिके लिये होते हैं तथा जो जातीयताके विकासके लिये हो सकते हैं, उन सबकी सूचना उक्त अर्थोंमें आ रही है। इतना व्यापक अर्थ बतानेवाला 'अवस्यु' शब्द है। 'अव्' धातुसे यह शब्द बनता है और इसी धातुसे 'ऊति, अवन, ओं' आदि शब्द बनते हैं। इसलिये इन सब शब्दोंमें मुख्यतया अथवा गौणवृत्तिसे सब पूर्वोक्त अर्थ विद्यमान रहते ही हैं। पाठक इस शब्दके ये अर्थ विशेष स्मरणपूर्वक मनमें धारण करें, क्योंकि 'अवन' शब्दका प्रयोग तथा इस धातुसे बने हुए शब्द वेदमें विशेष हेतुसे दिये हैं।

जो अपनी व्यक्तिकी, समाजकी, राष्ट्रकी तथा जनताकी सुयोग्य उन्नति करनेकी पराकाष्ठा करता है वही 'अवस्यु' हो सकता है। इस प्रकारके मनुष्यत्वका विकास करनेका प्रयत्न करनेवाले पुरुषार्थी ज्ञानी सुयोग्य विद्वानको ही श्रेष्ठ प्रकारकी सहायता करनी राजाको चाहिए, क्योंकि वह ज्ञानी उस सहायताका उपयोग जनताके हितके लिये ही करेगा।

'वरिवः' शब्दका अर्थ– पूजा, सन्मान, आदर, धन, स्थान, जगह, सुख, आराम, सुविधा इतना है। पूर्वोक्त प्रकारके 'अवस्यु ज्ञानी' के लिये राजा 'वरिवः' दे अर्थात् उनको उक्त प्रकारकी सब प्रकारसे सहायता और सुविधाएँ दे, उसीका सन्मान करे और उसको योग्य स्थान देकर आराम पहुँचावे। ताकी वह संरक्षक ज्ञानी सब मनुष्योंका भला होने और करनेका मार्ग ढूँढ कर निकाले और उसका सबको उपदेश करे।

यहाँ राजा और राजाके अधिकारियोंका धर्म वेदने बताया है। उक्त प्रकारके ज्ञानियोंको सब प्रकारसे सहायता देना और उनके मार्गमें किसी प्रकारकी बाधा न खडी करना राजाका तथा अधिकारियोंका कर्तव्य है। इस प्रकारके राजाका देव संरक्षण करते हैं ऐसा अंतिम मंत्रभागमें कहा है। सब प्रकारके देव उस प्रकारके राजाका उत्तम प्रकारसे रक्षण करते हैं।

इस प्रकार यह मंत्र व्यक्तिके कर्तव्य, समाजके कर्तव्य तथा राजाऔर राजपुरुषोंके कर्तव्य बता रहा है, तथा विजयके मार्गका प्रकाश कर रहा है इसका पाठक अधिक विचार करें।

कर्मका तत्त्व।

'आत्मा' शरीर धारण करके कर्म करता है।'आत्मा' का स्वभाव इसी शब्दसे ज्ञात हो सकता है। 'अत्-सातत्यगमने' इस धातुसे यह शब्द बनता है। सतत गमन, सतत कर्म, सतत पुरुषार्थ करनेका धर्म 'आत्मा' शब्द बता रहा है। वैदिक धर्मके अत्यंत महान् सिद्धांतोंमें यह एक बडा भारी सिद्धांत है, कि आत्मा सतत कर्म करनेवाला है और शरीर उसके पुरुषार्थका साधन है और बंधनोंका निवारण करके पूर्ण स्वातंत्र्यकी प्राप्ति करना उसके पुरुषार्थोंका साध्य है।

जीवात्माका दूसरा नाम 'क्रतु' है। क्रतुका अर्थ 'कर्म' है। आत्माका स्वभावधर्म ही कर्म करना है यह भाव इस शब्दद्वारा प्रकट हो रहा है। 'इंद्र' जीवात्माका नाम है और उसको 'शत-क्रतु' इसलिये कहते हैं कि वह इस शरीरमें कमसे कम सौ वर्ष रहकर क्रतु अर्थात् पुरुषार्थ करता रहता है। सौ वर्ष पुरुषार्थ करनेका धर्म जीवात्माका है यह भाव इस शब्दसे सिद्ध होता है। शतक्रतु इंद्र देवोंका राजा है। देव शब्द शरीरमें इंद्रियवाचक है। इंद्रियोंका राजा जीवात्मा है। यह ज्ञान यदि हरएक जीवात्माको हो जायगा तो उसकी शक्ति बढ जाती है। इस शरीररूपी कुरुक्षेत्रपर विजय प्राप्त करनेके लिये मैं आ गया हूं इस शरीररूपी रथमें बैठकर दुष्ट विचाररूपी शत्रुओंके साथ युद्ध करनेवाला मैं 'विजय' हूं। मेरा नाम 'विजय' होनेसे मेरा पराजय कोई नहीं कर सकता, क्योंकि मेरा सारथी परमात्मा है, मेरे साथ धर्म है और आत्मिक बल मेरा सहायक है। सब देवोंकी अर्थात् इंद्रियादिकोंकी अद्भुत शक्ति मेरे पास है इसलिये इस जीवन-

कलहकी युद्धभूमिमें स्थिरताके साथ युद्ध करूंगा और अवश्य विजय प्राप्त करूंगा।

मनुष्यके वैदिक नाम सबके सब पुरुषार्थका ध्वनि प्रकट कर रहे हैं। देखिए (१) मनुष्यः-'विचारशील' इसका भाव है। जो मनन कर सकता है (२) नरः-नेता A leader। दूसरोंको सत्यमार्गपर चलानेवाला जो होता है उसका नाम नर होता है। सब लोगोंको सन्मार्ग बतानेका पुरुषार्थ करनेवाला ही नर कहलाता है। तथा (न-रम्) जो अपने स्वार्थमें नहीं रमता; परोपकारके लिये ही अपना सर्वस्व अर्पण करता है उसको भी नर कहते हैं। (३) धवः-स्वामी घनकर प्रयत्न करनेवाला। मनुष्य ही जगत्में प्रभु है अर्थात् मुख्य है। प्रभु उसको कहते हैं कि जो विशेष प्रभावशाली होता है। मनुष्य प्रयत्न करके अपना प्रभुत्व इस जगतमें सिद्ध कर रहा है। जैसा जो पुरुषार्थ करता है वैसी उसको सिद्धि हो सकती है। (४) विशः-Enter-prise करनेवाला अर्थात् जोखिमके कठिन काम करनेके निमित्त उद्योग करनेवाला। यह मनुष्यका ही स्वभावधर्म है कि जो प्रतिदिन नवीन नवीन उद्योग करता रहेगा और अपनी परिस्थितीको सुधारेगा। (५) कृष्टयः-चर्षणयः—ये दोनों शब्द नित्य प्रयत्न करनेके द्योतक हैं। (६) व्राताः-समूह अर्थात् संघ बनाकर, जातीयताके विचारसे मिलकर ऐक्यभावसे रहनेवाला मनुष्य प्राणी है। अर्थात् यह शब्द बताता है कि संघशक्तिसे पुरुषार्थ करनेवाला मनुष्य है, यही उसका धर्म है। व्यक्तिके धर्म छोटे क्षेत्रके लिये होते हैं, और संघके धर्म अत्यंत विस्तृत क्षेत्रके लिये होते हैं। इस शब्दसे संघके विस्तृत धर्मोंकी सूचना मिल रही है और मनुष्यके कार्यक्षेत्रकी सीमा अत्यंत व्यापक है, ऐसा यहां सिद्ध हो चुका है। इतना ही नहीं परंतु केवल व्यक्तिकी उन्नतिके

लिये कर्म करने मात्रसे ही मनुष्यत्वका विकास नहीं होता है, बल्कि मनुष्यको अत्यंत आवश्यक है, कि वह जनताके हितके लिये अवश्य कार्य करे, क्योंकि संघभावसे रहना उसका निज धर्म ही है। (७) तुर्वशः- त्वराके साथ सबको वशमें लानेवाला मनुष्य है। मनुष्यके व्यवहारसे इस बातका पता लग सकता है कि किस प्रकार वह सब जगत्के स्थावर जंगम पदार्थोंको अपने वशमें ला रहा है (८) आयुः-आयुको धारण करनेवाला पुरुषार्थसे अपनी आयुको बढानेवाला मनुष्य है। इस प्रकार इतर कोई प्राणी अपनी आयु बढा नहीं सकते। केवल मनुष्य ही एक प्राणी है कि जो अपनी आयुको बढा सकता है (९) पूरवः-पूर्णता करनेवाला मनुष्य होता है। हरएक प्रकारका पुरुषार्थ करके उसमें पूर्णता प्राप्त करनेवाला मनुष्य ही है। (१०) जगतः-हलचल करनेवाला मनुष्य है। किसी एक स्थानमें, एक अवस्थामें, एक परिस्थितिमें, मनुष्य नहीं रहता। नित्य पुरुषार्थ करके उन्नति प्राप्त कर सकता है। (११) पंचजनाः-पांच प्रकारके लागोंका संघ बनाकर सबकी उन्नतिका साधन करनेवाला मनुष्य है। (१२) विवस्वन्तः-विशेष प्रकारसे वसने अर्थात् रहने सहनेका प्रयत्न करनेवाला मनुष्य है। (१३) पृतनाः-युद्ध करनेवाला अर्थात् नित्य प्रति चलनेवाले जीवन युद्धमें बडे बडे पुरुषार्थ करनेवाला मनुष्य है।

ये सब शब्द निघण्टु अ. २।३ में पाठक देख सकते हैं। ये वैदिक शब्द-जो कि मनुष्यवाचक हैं-स्पष्ट बता रहे हैं कि मनुष्यका स्वभावधर्म परमपुरुषार्थका साधन करना ही है। वैदिक शब्दोंके अत्यंत महत्वका पता यहां लग सकता है। इन अर्थोंको देखे विना ही वेदका अर्थ करनेका प्रयत्न करनेसे अर्थका अनर्थ होता है। वैदिक शब्दोंके अद्भुत अर्थ देखनेसे बडा

आश्चर्य होता है और जिसके मनमें ये अर्थ प्रकाशित होते हैं, उसको वेदकी अपूर्वता स्वयं ज्ञात होती है और उसके मनमें कोई संदेह नहीं रहता। अस्तु।

इस प्रकार मनुष्यका स्वभावधर्म सदा पुरुषार्थ करना है। इसीलिये कहते हैं कि आलस्य इसकी बीमारी है। पाठक यहां जान सकते हैं कि आलस्य मनुष्यका स्वभाव न होनेके कारण, परस्वाधीनता प्राप्त होनेके बिना आलस्य नहीं आ सकता। परस्वाधीन होनेका तात्पर्य (पर-स्व-आधीन) शत्रुकी शक्तिके आधीन होना है। शारीरिक शत्रु अजीर्ण आदि हैं, इसलिये जिस समय अजीर्ण, अपचन अतिभोजन होता है, उस समय आलस्य आता है। इसलिये योगग्रंथोंमें कहा है कि—

पथ्य-युक्त-हित-मित-भक्षणम्।

(१) योग्य, (२) हितकारक और (३) नियमित परिमित भोजन करना चाहिए। पाठक अनुभवसे देखेंगे कि लंघन करनेसे आलस्यका स्वभाव ही दूर होता है। यह शरीरके आलस्यकी बात हो गई। मनका आलस्य बुरे विचारोंका मनमें धारण करनेसे होता है। इसको दूर करनेके लिये श्रवण, मनन और आचरण श्रेष्ठ विचारोंके साथ होना उचित है। शरीर और मन उत्साहपूर्ण होनेसे आत्मबुद्धिमें सदा उत्साह रहता ही है। आत्मबुद्धिमें कभी निरुत्साह रहता ही नहीं, क्योंकि उत्साही प्रयत्नशीलता ही इसका स्वभावधर्म है। इसलिये जो सच्चे बनना चाहते हैं उनको उचित है कि वे अपने पाससे निरुत्साहको दूर करें और उत्साहपूर्ण विचारोंको ही अपने पास सदा रखें।

'इस जगत्‌में पुरुषार्थ करते हुए ही सौ वर्ष जीनेकी इच्छा

धारण करनी चाहिए।' (यज. ४०।२) यह वेद्की आज्ञा जगत्में प्रसिद्ध है। शतपथमें कहा है—

कर्म कुरु॥ (शत. ११।५।४।५)

'कर्म करो' हरएक मनुष्यको कर्म करना आवश्यक है। इस विषयमें और उपदेश देखिए—

कर्म कृण्वंतु मानुषाः॥ अथर्व. ६।२३।२
कर्मणे त्वां॥ यजु. १।६
कर्माणि चक्रुः पवमानधीराः॥ ऋ. ९।९६।११
कर्मारा ये मनीषिणः॥ अथर्व. ३।५।६

"मनुष्य कर्म करें। आपको कर्मके लिये ही उत्पन्न किया है। धीर लाग उद्योग करते हैं, जो बुद्धिमान होते हैं वे उद्यमशील होते हैं।" ये वैदिक उपदेश स्पष्ट हैं। अन्य शास्त्रोंके उपदेश देखिए-

कर्म कृण्वंति वेधसः॥ तै. सं. १।१।२।३
कर्म कृताः सुकृतो वीर्यवतीः॥ तै. ब्रा. ३।१।२।४
कर्मणा सुहस्ताः। शां. श्रौ. ८।२०।१
कर्मणे हस्तौ विसृष्टौ॥ कौ. सू. ३४।१५
कर्माणि तनुतेऽपि च॥ तै. आ. ८।५।१
कर्मार्थः पुरुषसंमितः॥ कौ. १।१९।४
कर्मासि॥ तै. सं. १।६।४।४

'ज्ञानी लोग उद्योग करते हैं। उत्तम पुरुषार्थसे वीर्यकी प्राप्ति अर्थात् शौर्यादि गुण प्राप्त होते हैं। कर्म करनेसे ही हाथ सुशोभित होते हैं। क्योंकि कर्म करनेके लिये ही हाथ बनाये हैं। पुरुषार्थोंका फैलाव उत्तम पुरुष करते हैं। पुरुषार्थ पुरुषको ही

पसंद होता है। मनुष्य कर्मरूप ही है।' ये सब उपदेश नित्य मनन करने योग्य हैं। तथा—

कर्म च मे शक्तिश्च मे ॥ यजु. १८।१५

'मेरी पुरुषार्थ करनेकी शक्ति और मेरा पौरुष कर्म सत्कृत्य रूप बने।' यह इच्छा अत्यंत प्रभावशाली है। इसलिये जो स्वयं वेदका पाठ कर सकते हैं वे कभी आलसी और निरुद्योगी तथा उत्साहहीन रह नहीं सकते। जबतक वेदका धर्म आर्योंमें जीता जागता रहा था तब आर्य सर्वत्र विजयी और यशस्वी थे। तथा जबसे आर्य वैदिक धर्मसे विमुख हो गये, तबसे उनके अंदर निरुत्साह और सुस्ती आगई है। वैदिक वायुमंडल सब प्रकारसे पुरुषार्थका वायुमंडल है। इसलिये जो स्वयं वैदिक धर्मी हैं उनको वेदका अवश्य अध्ययन करना चाहिए, तथा जो नहीं है उनको वैदिक धर्ममें लाना चाहिए। यदि सब लोगोंके अंतःकरणोंमें वैदिक धर्मका प्रकाश हो जाय तो निस्संदेह सब कष्ट दूर हो जावेंगे।

कर्म करना अवश्य है, तथा मनुष्यका अथवा जीवात्माका स्वभावधर्म ही कर्म करनेका है, इतनी बात सिद्ध हो गई। अब यहाँ देखना है कि कर्म किस प्रकार करना चाहिए।

जिस समय आप कर्म करने लगेंगे उस समय निम्न प्रकारकी भावना मनमें रखिए। (१) यह कर्म मैं अपनी अंतःस्फूर्तिसे ही कर रहा हूं, किसीके दबावसे नहीं और कर्मके करनेसे मेरा धार्मिक जीवन व्यतीत होगा। उच्चता और श्रेष्ठताका जीवन व्यतीत करनेसे मेरी मनुष्यताका विकास होगा, इस कारण इस कर्मकी अत्यंत आवश्यकता है। (२) जो कर्म करना है उसको प्रारंभ

करनेके पूर्व आप उस कर्मके करनेकी विधि परिपूर्णतासे जानिए तथा उसके साथ संबंध रखनेवाले जो जो कर्मविभाग होंगे उनका ज्ञान भी प्राप्त कीजिए। ताकि इष्ट कर्म करनेके समय किसी प्रकारका दोष न हो सके। कर्म करनेके पूर्व बुद्धिसे संपूर्ण योजना कीजिए, तथा कर्मसमाप्तितक मन उदार रखिए और सर्वत्र विचारसे ही काम करनेका अभ्यास कीजिए। (३) विघ्न अथवा किसी प्रकार न्यूनता रही अथवा इष्ट अथवा इष्टसिद्धि प्राप्त न हुई तो निरुत्साहित न हो जाइए, पुनः यत्न कीजिए। परमेश्वरपर विश्वास रखकर कार्य करनेसे अवश्य विजय प्राप्त होगा। (४) विश्वास रखिए कि छोटे कार्योंमें प्राविण्य संपादन करना बहुत अच्छा है, परन्तु बडे बडे कार्य अधूरे छोडना न केवल आपके लिये बुरा है, परन्तु दूसरोंके लिये भी प्रतिकूल हो सकता है। (५) अधूरा कार्य छोडनेका अभ्यास बहुत ही बुरा है। इस प्रकारका मनुष्य किसी प्रकारसे उन्नत नहीं हो सकता। (६) स्मरण रखिए कि जो कर्म आप करेंगे उसका परिणाम जैसा आपपर होना है वैसा ही जनता पर भी होना है, इसलिए जितनी पूर्णतासे आप उसको निभा सकें उतना ही अच्छा है। जो कर्म आप करेंगे उसको बडा पवित्र समझ कर बडे धैर्यसे कीजिए। कर्म करनेके समय फलकी ओर दृष्टि न दौडाइये। (७) प्रत्येक कर्ममें कोई न कोई कष्ट अवश्य होंगे। इस लिये कष्टोंसे डर कर किसी कार्यको न छोडिये, क्योंकि कोई ऐसा कार्य न होगा कि जो आराम तलबीसे हो सकता है। तप करने अर्थात् कष्ट सहन करनेका अभ्यास कीजिए, जिससे आप हरएक कष्टको आनंदसे सहन कर सकेंगे। कष्टोंसे न डरिये, उनका स्वागत कीजिए। यदि आप कष्टोंका स्वागत करेंगे तो आपको उनसे कष्ट ही न होगा।

(८) अपने अंदर जो न्यूनता होगी उसको दूर करने और अपने अंदर जो अच्छे गुण होंगे उनका विकास करनेके लिये प्रयत्न कीजिए। तथा नवीन अच्छे गुण अपने अंदर बढानेकी पराकाष्ठा कीजिए। प्रतिदिन शांतिके समय इस दृष्टिसे आप स्वयं ही अपनी परीक्षा कीजिए। (९) कार्यमें सिद्धि प्राप्त करनेसे उत्साह बढता है, इसलिये कर्म करनेकी विधि सदा निर्दोष रखिए। यदि दोष न होंगे तो अवश्य सिद्धि हो सकती है। (१०) अपने शरीर, इंद्रिय, मन, वाणी, बुद्धि आदि शक्तियोंद्वारा नियमके अनुसार व्यवहार करनेका अच्छी प्रकार अभ्यास कीजिए। अनियमसे ही सर्वत्र हानि होगी। (११) सदा स्मरण रखिए कि आपकी उन्नति अपने पुरुषार्थसे ही होनी है। कोई दूसरा इसमें सहायता नहीं कर सकता। (१२) कर्म करनेके समय उससे शीघ्र लाभ उठानेका विचार न कीजिए, परंतु जितनी शक्ति आपके पास होगी उतनी उस कर्मके लिये अर्पण करके उत्तम रीतिसे उसको निभानेकी पराकाष्ठा अपनी ओरसे कीजिए। (१३) अपना स्वधर्म तथा अपने गुणकर्म-स्वभाव देखिए, और उसके अनुकूल ही कर्म कीजिए। (१४) विरोधियोंके शब्द आनंदके साथ सुनिए और अच्छा कर्म, पूर्ण विचारसे कीजिए। विरोधियोंके कारण आप अपनी शक्ति बढ सकते हैं फिर उनके शब्दोंसे आप क्रोधित होकर अपना नुकसान क्यों करते हैं? (१५) क्रोधसे आपका ही नुकसान होगा न कि जिसपर आप क्रोध कर रहे हैं उसका। क्रोधसे आयु भी कम होती है। (१६) कर्म छोटा है इस लिये असावधानता न कीजिए। क्योंकि छोटेसे प्रमादसे बहुत बुरा परिणाम होता है। (१७) कर्म इतना उत्तम कीजिए कि जैसा पहिले किसीने नहीं किया हो, परिपूर्णता अपने कर्ममें संपादन कीजिए। यही योग है।

कर्ममें कुशलता संपादन करना ही योग है। (१८) आप यह समझिए कि जो कर्म आप कर रहे हैं वह आपके ऊपर जानेके मार्गकी एक सीढी है। कर्मसे ही मनुष्यकी उच्चतम अवस्था होती है। (१९) प्रारंभसे अंततक हास्यमुद्राके साथ प्रसन्नतापूर्वक कर्म कीजिए। (२०) सब सामग्री उत्तम प्रकारसे सिद्ध कीजिए। सामग्री तैयार करनेमें उदासीनता न रखिए क्योंकि साधन-सामग्रीकी उत्तमतापर ही आपकी कार्यसिद्धि निर्भर रहती है। (२१) मन सदा उदार, विशाल, गंभीर और परिपूर्ण रखिए। न्यूनताका संपर्क न होने दीजिए। (२२) जो कर्म आप जिस समय करेंगे उसीमें अपना मन परिपूर्णतासे लगानेका अभ्यास कीजिए। मनकी एकाग्रता आप उसीमें कीजिए। (२३) उद्देश्य निश्चित करके ही कर्मका प्रारंभ कीजिए। बिना उद्देश्य प्रयत्न करना मूर्खताका काम है। (२४) कर्म करनेमें आनंद समझिए क्योंकि कर्मसे अमृतकी प्राप्ति होती है। (२५) जो करना है उसे दिलसे कीजिए। यदि दिलसे नहीं करना है तो मत कीजिए। (२६) जो कर्म करना आवश्यक हुआ है उसको नीचा न मानिए। सब कर्म योग्यताके साथ किये जांय तो उन्नतिके साधक ही होते हैं। कर्म करनेकी आपकी रीतिपर उनकी उच्चता निर्भर है। (२७) अपना कर्तव्य समझ कर आनंदके साथ कर्म कीजिए तथा जो करना है उस कर्मको उच्च समझ कर, परमेश्वरको प्रसन्न करनेकी बुद्धिसे कर्म करते जाइए; निःसंदेह इस प्रकार कर्म करनेसे आपकी उन्नति होगी।

धर्मके संस्कार करनेके समय, तथा व्यवहारके दूसरे कर्म करनेके समय उक्त भावना मनमें रखिए और देखिए कि आपकी अवस्था कैसी बनती है। कर्म प्रतिक्षण करना होता है

इसलिये उक्त भावना प्रतिक्षण ही मनमें धारण करना आवश्यक है।

कर्मसे ही जनक आदिकोंने उत्तम सिद्धि प्राप्त की थी, फिर आप क्यों नहीं कर सकेंगे? भगवान् श्रीकृष्णचंद्रजी महाराज योगेश्वर थे, उनका आदेश भी कर्म करनेके लिये ही है। सब जगत् कर्मपर खडा है, फिर आप ही कर्मके विना कैसे ठहरेंगे? सोचिए और प्रबल पुरुषार्थ करनेका निश्चय करके उठिए।

पुरुषार्थ-प्रयत्न करनेवालेकोही

देवता सहायता करते हैं।

देवोंकी सहायतासे मनुष्यकी उन्नति होती है। देवोंका साहाय्य तबतक नहीं होता कि जबतक मनुष्य पुरुषार्थ नहीं कर सकता। देखिए, ऋग्वेद्में कहा है—

न ऋते श्रांतस्य सख्याय देवाः ॥ (ऋ. ४।३३।११)

"(श्रांतस्य ऋते) परिश्रम करनेके विना (देवाः) देव (सख्याय न) मित्रता नहीं करते। " अर्थात् जो परिश्रम करेगा उसीकी समृद्धि उन्नती और वृद्धि होती है। जो पुरुषार्थ नहीं करता उसकी उन्नति नहीं हो सकती।

व्यायाम करनेसे शरीरके अवयव पुष्ट होते हैं; संयम और दमन करनेसे इंद्रियोंकी शक्ति बढती है; एकाग्रताका अभ्यास करनेसे मनका सामर्थ्य वृद्धिगत होता है; अर्थात् अपने शरीरके इंद्रियरूपी देव भी उसी समय साहाय्यता करते हैं कि जिस समय इंद्रियोंके द्वारा उत्साहपूर्ण प्रबल प्रयत्न होता है। जो सुस्तीसे बैठेगा उसके अंग वैसे सुडौल नहीं बनते कि जैसे व्यायाम करनेवालेके बनते हैं।

अग्नि, वायु, जल, सूर्य, विद्युत् आदि बाह्य जगत्के देव भी तबतक मनुष्यकी सहायता नहीं करते कि जबतक मनुष्य विशेष

पुरुषार्थ नहीं करता। जबतक आग जलाकर अन्न पकानेका पुरुषार्थ मनुष्य नहीं करेगा तबतक अग्नि मनुष्यकी सहायता नहीं कर सकेगा। जबतक कूआ खोद कर, जल निकाल कर शरीर और कपडे लत्ते स्वच्छ न किये जाय तबतक जलदेवता मनुष्योंको स्वच्छता प्रदान नहीं कर सकती। इसी प्रकार अन्य देवताओंके विषयमें समझिए। अर्थात् पुरुषार्थ करनेवालेकी ही सहायता देवतागण कर सकते हैं, आलसी मनुष्यकी कोई सहायता नहीं कर सकता।

ज्ञानी, विद्वान्, योगी, महर्षि भी उन्ही मनुष्योंकी सहायता कर सकते हैं कि जो ज्ञान लेने और योगाभ्यास करनेमें तत्पर होते हैं। जो सुस्तीले बैठेंगे उनको उठाना किसीकी शक्तिमें नहीं है। अर्थात् आत्मविश्वासपूर्वक प्रयत्नही उन्नतिका साधक है। निश्चयसे जान लीजिए कि एकमात्र यही उपाय है।

साक्षात् परब्रह्मकोभी बडे प्रयत्नके साथ और तप करनेके पश्चात् हो जगत्की धारणा करनेकी सफलता हुई है। देखिए गोपथ ब्राह्मणमें कहा है-

ॐ ब्रह्म ह वा इदमग्र आसीत्। स्वयं त्वेकमेव
तदैक्षत। महद्वै यक्षं। तदेकमेवाऽस्मि।
हन्ताहं मदेव मन्मात्रं द्वितीयं देवं निर्मम इति।
तदभ्यश्राम्यदभ्यतपत् समतपत्। तस्य
श्रान्तस्य तप्तस्य संतप्तस्य ललाटे स्नेहो
यदार्द्र्यमाजयत। तेनानन्दत्। ………… ॥ १ ॥
स भूयोऽश्राम्यद् भूयोऽतप्यत् भूय आत्मानं
समतपत्तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सन्तप्तस्य सर्वेभ्यो
रोमगर्तेभ्यः पृथक्स्वेदधाराः प्रास्यन्दत। ताभि-

रनन्दत्। तदब्रवीदाभिर्वा अहमिदं सर्वं धारयिष्यामि यदिदं किं च .... ॥ २॥

(गोपथ ब्रा. प्र. १)

"निश्चयसे यह ब्रह्म ही केवल प्रथम था। वह स्वयं एक ही था। उसने देखा कि यद्यपि मैं महान् और यजनीय हूं तथापि मैं केवल एकही हूं। इसलिये मैं अपनेसे अपने सदृश दूसरा देव निर्माण करूंगा। पश्चात् उसने श्रम किया, कष्ट सहन किये और बडा तप किया। जिससे उनके मस्तकपर पसीनेके बूंद आगये। उस पसीनसे उसको बडा आनंद हो गया। ....॥ उसने फिर बहुतही परिश्रम किया, बहुत कष्ट सहन किये और बडा भारी तप किया, जिससे उनके शरीरके रोमरोमसे अलग अलग पसीनकी धाराएँ बहने लगीं। उन धाराओंको देखकर उसे बहुत आनंद हो गया और उसने कहा कि इन धाराओंसे इस सब जगत्की मैं धारणा करूंगा...... ॥"

यद्यपि यह वर्णन बडे अलंकारसे युक्त है, तथापि उसमें उत्साहमय महान् पुरुषार्थ करनेकी प्रेरणा निःसंदेह है। श्रम करना, परिश्रमसे पुरुषार्थ करना, आनंदसे कष्ट सहन करना, तप करना, इत्यादिसेही वृद्धि होती है। उन्नति और अभ्युदय इसीसे प्राप्त होता है। जब परब्रह्मकोभी परिश्रम करना पडता है, तो अन्य छोटी शक्तिवालोंको परिश्रम करनेकी कितनी आवश्यकता है उसका विचार पाठक कर सकते हैं। यही उपदेश इस गोपथके वर्णनद्वारा ऋषिने किया है अर्थात् परिश्रम और पुरुषार्थके विना कोई सिद्धि प्राप्त नहीं होती।

'आत्मा' शब्दका अर्थ ही 'सतत पुरुषार्थ करनेवाला' है। 'अत्-सातत्यगमने' इस धातुसे आत्मा शब्द बना है। सतत

हलचल (Constant movement) करना, अर्थात् हमेशा पुरुषार्थ करना आत्माका नैसर्गिक स्वभाव है। इस निज धर्मको आत्मासे पृथक् नहीं किया जा सकता। जहाँ आत्मा होगा वहाँ पुरुषार्थ अवश्य होना चाहिए, अर्थात् आलस्य आत्माका निज धर्म नहीं है। आत्माका स्वभावधर्म सतत पुरुषार्थ करनेका उत्साह है। जो आलसी बनता है, वह अपने स्वभाव-धर्मसे गिरता है; इस कारण अधोगतिको प्राप्त होता है। इसी लिये आलस्यका स्वीकार करना किसीको भी उचित नहीं।

व्यक्तिके गुणोंका विकास, समाजके गुणोंका उत्कर्ष, राष्ट्रीय सद्गुणोंका अभ्युदय करना प्रत्येकका कर्तव्य है। इन कर्तव्योंको न करनेसे ही सब पातक और सब दोष होते हैं। देखिए—

ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति ॥

(अथर्व ११।५।४)

'ब्रह्मचारी (लोकान्) सब लोगोंको अपने (श्रमेण) परिश्रमद्वारा और तपके द्वारा (पिपर्ति) संतुष्ट करता है।' अर्थात् ब्रह्मचारीको उचित है कि वह परिश्रम करके तथा कष्ट सहन करके सब जनताकी भलाईके कार्य करता रहे। परोप-कार, जनहित, समाजहित, राष्ट्रहित करना ब्रह्मचारीका एक मुख्य कर्तव्य है। यह बात इससे सिद्ध है। तथा जनहितके कार्य बडे परिश्रमसेही सिद्ध होनेवाले होते हैं, इसलिये सब प्रकारसे कष्ट सहन करनेके लियेही ब्रह्मचारियोंको सदैव तैयार रहना चाहिए।

न श्राम्यन्ति न विमुंचन्त्येते
वयो न पप्तू रघुया परिज्मन् ॥
(ऋ० २।२८।४)

'(न) जिस प्रकार (रघुया वयः) वेगवान् पक्षी (परिज्मन्) आकाशमें सर्वत्र निरंतर भ्रमण करते हुए (पप्तुः) दौडते हैं, उस प्रकार वे (न श्राम्यन्ति) परिश्रम करनेसे थकते भी नहीं और प्रारंभ किया हुआ कार्य बीचमें (न विमुंचन्ति) छोडतेभी नहीं ।'

इस मंत्रमें दो बातोंका उपदेश किया है- (१) ऐसी शक्ति प्राप्त करना कि जिससे अत्यंत पुरुषार्थ प्रयत्न करनेपर भी थकावट न हो सके, तथा (२) प्रारंभ किया हुआ कार्य बीचमें अधूराही छोड देनेकी बुरी आदत न रहे । कार्यसिद्धिके लिये ये दोनों बातें मुख्य हैं। तीसरी बात जो इस मंत्रद्वारा उपमासे बताई है, वह यह है कि, (३) पक्षी जिस प्रकार स्वतंत्रतापूर्वक विहार करते हुए स्वावलंबन और स्वाधीनताके साथ अपने आवश्यक पदार्थोंको पुरुषार्थसे प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार मनुष्योंको भी उचित है कि वे स्वावलंबन और स्वातंत्र्यका संरक्षण करते हुए अपने आवश्यक पदार्थोंके लिये किसी दूसरोंपर निर्भर न रहें। पक्षियोंके आचरणसे यह उपदेश मनुष्योंको लेना चाहिए। इस प्रकार सतत पुरुषार्थका माहात्म्य है। देखिए और वेदने कहा है—

न मा तमन्न श्रमन्नोत तन्द्रन्न वोचाम ।
(ऋ० २।३०।७)

'(न मा तमन्) मेरे लिये अज्ञान न हो (न श्रमन्) थकावट न हो (उत न तन्द्रन्) और आलस्य न आवे, (न वोचाम) हम गप्पेबाजी न करें ।'

(१) अज्ञान, (२) थकावट, निरुत्साह, (३) आलस्य और (४) बडबड करनेका स्वभाव येही चार दुर्गुण हैं कि जो मनुष्यमें अवनति लाते हैं। इसलिये सबको उचित है कि वे इन दुर्गुणोंको सदा दूर रखनेका यत्न करें। अर्थात् (१) ज्ञान, (२) उत्साह, (३) पुरुषार्थ-प्रयत्न और (४) शांतिके साथ कर्तव्य करनेका गुण प्राप्त करें और अपने अभ्युदयके मार्गमें जो जो विघ्न आ जांयगे उनको निश्चयसे दूर करें।

इस प्रकार परिश्रम करनेका वेदमें उपदेश है। हरएक मनुष्यको चाहिए कि वह इस दिव्य उपदेशका स्मरण रखे और पुरुषार्थ करके अपनी तथा राष्ट्रकी उन्नति साधन करे।

सब सुखोंकी एकसाथ प्राप्ति।

(जीवन्मुक्त श्री अच्युत स्वामीजी महाराजका शिष्यके प्रति एक कथोपदेश)

(लेखक—"अभय")

शिष्य गुरुमहाराजसे वार्तालापोंसे कुछ शिक्षा ग्रहण कर रहा है। बस्तीसे मीलों दूर, चारों तरफ दूरतक विस्तृत गंगाके रेतील मैदानमें, भागीरथीकी पावनी धाराके तटपर एक काष्ठमन्दिरकी छायामें श्रीअच्युत स्वामीजी महाराज विराजमान हैं और सामने यह शिष्य उनसे आज वार्तालाप करनेका सौभाग्य पाये हुए नम्रभावसे बैठा हुआ है। अन्य कई ज्ञानप्रसंगोंके अनन्तर शिष्यने प्रश्न किया, "भगवन्! यह पञ्चकोश क्या वस्तु है?" महाराजने अन्नमय, फिर प्राणमय, फिर मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय एक एक कोशका स्वरूप तथा कार्यादिक अच्छा तरह समझा कर बतलाया और उसके अनंतर कहने लगे कि इन्हीं पञ्चकोशोंकी वह गुहा है। जिसमें कि आत्मा निहित है। उपनिषदोंमें स्थान स्थानपर आत्माको "गुहा—निहित" वर्णन किया है। सो इन कोशोंकी ही गहन गुहाके अन्दर छिपा पडा हुआ ब्रह्म संसारी लोगोंको उपलब्ध नहीं होता, यद्यपि वह इतना निकट है कि उससे अधिक निकट कुछ और हो ही नहीं सकता।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्।
सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता॥

तै० उ० २-१-१

तुमने यह मंत्र पढा होगा। यहांपर "गुहा" यही पञ्चकोशरूपा है। इसके 'परम व्योम' (अज्ञानरूप कारणकी गहनता) में निहित "ब्रह्म" को जो पुरुष जानता है। कैसे ब्रह्मको? सत्य,

ज्ञानस्वरूप और सब प्रकारसे अनन्त । यही ब्रह्मका लक्षण है "सत्यं ज्ञानमनन्तं ।" जो इस ब्रह्मको जानता है, 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान्' वह सब कामों, भोगोंको प्राप्त करता है। "सह" एकसाथ, इकट्ठा, युगपत्। उसे एकसाथ संपूर्ण भोग प्राप्त होते हैं। कैसे? "ब्रह्मणा विपश्चिता" सर्वज्ञ ब्रह्मसे, सर्वज्ञ ब्रह्मद्वारा। जो मनुष्य उस गुहानिहित ब्रह्मको जानता है उसे ब्रह्मद्वारा ब्रह्माण्डके सब आनन्दभोग एकसाथ प्राप्त होते हैं। तुम यह समझो कि उसे सब काम, आनन्द युगपत् कैसे प्राप्त होते हैं ? यह कुछ विचारनेकी बात है। जरा सोचो कि सब सुखोंकी एकदम प्राप्ति कैसे हो सकती है। अच्छा! तुमने कभी सयुग्वा रैक्वकी कथा सुनी होगी! यह कथा छान्दोग्य उपनिषद् में आती है।

शिष्य—नहीं महाराज मैंने नहीं सुनी । आप सुनानेका अनुग्रह कीजिये। मैं सुनना चाहता हूं।

गुरु महाराज कुछ ठहर कर इस प्रकार सुनाने लगे—

एक समयमें ज्ञानश्रुति पौत्रायण नामका एक राजा रहता था। वह बडा सद्गुणी था। प्रतापी और दानी था, बडी श्रद्धासे ब्राह्मणों विद्वानोंकी पूजा करता और उन्हे बहुत दान देता था। हर समय गरीबोंके लिये उसके यहां पाक होता रहता था। उसने अपने राज्यमें जगह जगह ग्राम ग्राम और नगर नगर में "अवसथ" बनवा रखे थे, जहांपर कि सब कोई रहकर भोजन पा सकता था। इन कारणोंसे उस पुण्यात्मा राजाका यश सब ओर फैल रहा था और सब देव और मनुष्य उसकी हितकामना करते थ।

एक दिन रात्रिके समय राजा चाँदकी सुहावनी चाँदनीमें अपने प्रासादके शिखरपर सुखसे लेटा हुआ था कि उसने

आकाशमें दो दिव्य हंसोंको उडते हुए देखा। जब वे कुछ समीप आये तो पिछला हंस अगले हंससे कहने लगा, "अरे भल्लाक्ष! भल्लाक्ष! देखता नहीं कि ज्ञानश्रुति राजाका द्युलोकसम देदीप्यमान प्रताप कैसा फैल रहा है? आगे कहां बढता है? देख कहीं तेरे पंख इस प्रतापज्योतिमें जल न जांय।" दूसरा हंस बोला-"यह ज्ञानश्रुति राजा!! तू तो इसकी ऐसी प्रशंसा करता है जैसे कोई सयुग्वा रैक्वकी प्रशंसा करे।" "यह सयुग्वा रैक्व कौन है।" भल्लाक्षने बताया, "जिस प्रकार द्यूतक्रीडामें कृत पासेद्वारा जीतनेसे शेष सब पासे उसी जीतनेवालेके हो जाते हैं, उसी प्रकार संसारके सब मनुष्य जो कुछ भी पुण्यधर्म करते हैं उस सबका फल 'सयुग्वा रैक्व' को प्राप्त होता है। इसलिये मैंने कहा कि तू तो इसकी सयुग्वा रैक्वकीसी प्रशंसा करता है। और भी जो कोई उस ज्ञानको जानता है जिसे कि रैक्व जानता है, उसको भी सबके किये पुण्योंका फल स्वतः प्राप्त हो जाता है।"

असलमें यह कोई ऋषि या देवता थे, जो कि राजाके गुणोंसे सन्तुष्ट हुए हंसोंका रूप धारण करके आये थे कि राजाको जिज्ञासा उत्पन्न करें। क्यों कि विना जिज्ञासा हुए ज्ञान कैसे दिया जा सकता है?

हंसोंको यह वार्तालाप सुननेके बाद राजाको नींद नहीं आई। शेष रात्रि उसने इसी बातको सोचते सोचते बिताई। प्रातःकाल जब वन्दीगण राजाकी स्तुति करते हुए उसे जगाने लगे तब राजा बोला कि, तुम तो मेरी ऐसी स्तुति करते हो जैसे कि कोई सयुग्वा रैक्वकी करे? सयुग्वा रैक्व कौन है? राजाने इससे हंसका कहा हुआ वाक्य ही दुहरा दिया कि जैसे कृत पाससे जीतने पर अन्य सब पासे उसीके हो जाते हैं, उसी प्रकार संसारके सब

लोग जो भी कुछ पुण्य करते हैं, उस सबका फल सयुग्वा रैक्वको पहुंच जाता है ।

अब सयुग्वा रैक्वके पता लगानेकी आज्ञा हुई। देशके सब बडे बडे नगरों, ग्रामोंमें खूब खोज की गई, किंतु रैक्वका कहीं कुछ पता न चला। अंतमें वे लोग लौट आये और आकर कहा कि रैक्व कहीं नहीं मिलता। उनका वृत्तांत सुनकर उन्हें बताया "अरे, जो ब्राह्मण ब्रह्मज्ञानियोंके रहनेके प्रिय स्थान हैं वहां जाकर उसे ढूंढो। नगरों, महलों, बाजारोंमें उसका पता कहाँ लगेगा? कहीं नदीके तटों, पुण्य जंगलों, पहाडकी कंदराओंमें उसकी खोज करो, तब उसका पता लगना संभव है।" फिरसे ढूंढना प्रारम्भ हुआ। ढूंढते ढूंढते एक दिन दुपहरके समय एक नदीके समीप एक गाडी (शकट) के नीचे छायामें अकेला बैठा हुआ एक तेजस्वी ब्राह्मण दिखाई दिया। आशा बंधी कि शायद यही वह ब्राह्मण होगा। पास जाकर उससे पूंछा- "भगवन्! तुम्हारा नाम सयुग्वा रैक्व तो नहीं है?" उसने कहा- "मेरा नाम सयुग्वा रैक्व है।" ढूंढनेवालों ने शीघ्र जाकर यह शुभ संवाद सुनाया कि अमुक अमुक स्थानपर रैक्व मिल गया है।

अब राजा ६०० गौवें, एक कण्ठहार और रथ साथ लेकर सयुग्वा रैक्व के पास पहुंचा और उन्हें निवेदन करता हुआ बोला "रैक्व! यह लो ६०० गौवें, यह कण्ठहार और यह रथ। भगवान्! मुझे अनुग्रह कर, इस देवता का उपदेश करो जिसकी कि तुम उपासना करते हो। मैं आपका शिष्य होकर उपस्थित हूं।" रैक्वने कहा- "जा रे शूद्र, ले जा अपनी गौवें और धन अपने ही साथ। हमें यह नहीं चाहिये"। राजा बेचारा लौट आया। फिर दुबारा वह कुछ

विचार कर अपने साथ १००० गौवें तथा हार और रथके साथ अपनी पुत्री को भी उसके गार्हस्थ्य के लिये लेकर आया और वे ग्राम भी जहाँ कि वह बैठा था उसको दहेज की रूपमें अर्पण कर दिये। वे ग्राम उस समय से "रैक्वपर्ण" नाम से प्रसिद्ध हो गये हैं।

अस्तु, अंतमें उसने राजाको संवर्ग विद्याका उपदेश किया है, ब्रह्मज्ञान दिया है। अर्थात् उस देवताका ज्ञान कराया है, जिसकी कि वह स्वयं उपासना करता था और जिसका कि अनंत फल यह है कि संसार भरके सब मनुष्य जो कुछ भी पुण्य करते हैं उस सबका फल उस (ज्ञानी) को स्वतः पहुंच जाता है।

(इस प्रकार यह कथा समाप्त कर महाराज इसे समझाने लगे)

यहां पहिले देखो कि पुण्योंका फल क्या होता है? सुख, आनंद। सब पुण्योंका फल यही है। किंतु यह सुख क्या वस्तु है? सुख को देखो, सुख क्या है? तुम ही बताओ सुख क्या है?

शिष्यने सुखका कुछ (जो कुछ बन पडा) लक्षण करनेका यत्न किया और तदनंतर इच्छा प्रकट की कि अब आप मुझे ठीक ठीक समझाइये कि सुख क्या है?

महाराज बोले —देखो, "इच्छानिवृत्तिका ही नाम सुख है।" सुख और कुछ वस्तु नहीं है। जब हमारी कोई इच्छा, कामना निवृत्त होती है तभी हमें सुखका अनुभव होता है। वस्तुतः यह इच्छाओं कामनाओंका होना ही है, जो कि हमें सुख नहीं पाने देता। क्योंकि सुखका अक्षय भण्डार तो हमारे अंदर-आत्मामें-विद्यमान है, यह कहीं भी बाहर नहीं है। परंतु इस आंतर सुख का भी अनुभव हमें तभी होता है जब कि हमारी इच्छा कामना शांत होती है। मनुष्य अज्ञानसे समझता यह है कि सुख उस

बाह्य वस्तु का है जिसकी कि प्राप्तिसे उसकी कामना पूर्ण हुई है । देखो, तुमने अभी भोजन किया है तुम इस समय तृप्त हो, तुम्हारा पेट भरा हुआ है, अब तुम्हें यदि और भोजन के लिये कहा जाय तो तुम कभी स्वीकार न करोगे ....जबर्दस्ती भोजन खिलाया जाय तो इस भोजनसे सुखके स्थान पर तुम्हें अब कष्ट होगा । यदि समुचय भोजनमें ही आनंद होता तो अब पेट भरने पर भी भोजनसे आनन्द ही होना चाहिये था। किन्तु नहीं, बाहिर कहीं भी सुख नहीं है । सदा इच्छा निवृत्ति से ही अपना आन्तर सुख मनुष्य को अनुभव होता है—सुख प्राप्त होता है । भोजन से आनन्द हुआ, क्यों कि इससे बुभुक्षा (खानेकी इच्छा) निवृत्त हुई और वृत्ति अन्तर्मुख हो गई । मनुष्य बाह्य वस्तुओं को सुख का साधन समझता हुआ बाहर भटकता फिरता है । जब कभी कोई इच्छा पूर्ण होती, कामना शान्त होती है तो मन स्वस्थावस्था को प्राप्त हो अन्तर्मुख होता है और वहां अपने परमानंद का आस्वादन करता है । किन्तु यह उसे केवल क्षणभर के लिये है जबतक कि दूसरी इच्छा उत्पन्न हो कर उसे सताने नहीं लगती । इच्छा उत्पन्न होतेही फिर मन बाहर भागता है और व्याकुल होता है । यह कामनाही है जो वृत्तिको बहिर्मुख कर प्राणिको अपनाही अपार आनन्द नहीं पाने देती । धन्य हैं वे पुरुष जो कि, निरन्तर कामनाहीन स्वस्थावस्थामें रहकर अन्तर्मुख हो ब्रह्मानन्दमें लीन होते हैं । यही ब्रह्मानन्द है । यही ब्रह्मकी प्राप्ति है । क्षणक्षणभरके लिये सभी लोग प्रतिदिन इच्छानिवृत्त (सुख) होनेपर उस परब्रह्म को प्राप्त करते हैं । किन्तु वे इसे जानते नहीं । वहीं अनन्त ब्रह्म छिप रहा है । इसे कहते हैं– "तिनके की ओटमें पहाड" । किंतु

जिस आप्तकामकी सब कामनायें शान्त हैं, वही वास्तविक निरन्तर ब्रह्मानन्दको पाता है, उसे ही ब्रह्मका साक्षात्कार होता है। जितनी कामनाएं शान्त हैं, वह उतनाही आनन्दपूर्ण है, वह उतनाही ब्रह्मके समीप है। नवजात बालकको देखो, उसकी कैसी ब्रह्ममयी अवस्था होती है, वह सदा आनन्दमें लीन रहता है। क्योंकि उसे कोई इच्छा नहीं ......उसे कोई कामना नहीं सताती। उसका मुख गुलाबके फूलसा खिला हुआ, आनन्दमग्न सदा खिल खिलाता हुआ वह बिछानेपर पडा रहता है। या तो जब उसे भूक लगे, या बिस्तरपर कुछ उसे चुभे, इन दो अवस्थाओंको छोड कर (इन दो अवस्थाओंमें तो वह अवश्य दुःख प्रगट करता है, किन्तु जहां उसकी केवल मात्र यह दो इच्छाएं निवृत्त हुईं) शेष २४ घन्टे वह बडे आनन्दकी अवस्थामें प्राप्त हुआ रहता है...उसे कोई इच्छा नहीं...कोई अभिलाषा नहीं...कोई चिन्ता नहीं। वस्तुतः बालकको स्वभावसेही ब्रह्मप्राप्ति रहती है। किन्तु बडा होकर ज्यों ज्यों उसकी इच्छाएं बढती हैं वह संसारमें फंसता जाता है, चिन्ताग्रस्त रहने लगता है, उसकी वह सहज-प्राप्त ब्राह्म अवस्था सर्वथा नष्ट हो जाती है। उसकी स्मृति तक नहीं रहती। क्षणक्षणमें इच्छाएं पैदा होकर उसे कभी भी अन्तर्मुख नहीं होने देतीं। जहां अन्तर्मुखता नहीं वहां सुख नहीं। जहां कामना शान्त हुई वहीं सब सुख हैं। बस यह अच्छी तरह समझकर देख लो कि कामनाओंका निवृत्त होनाही सुखका भोग है। जब मनुष्यकी जिस विषयकी इच्छा निवृत्त हो रही होती है, तब उसे उस विषयका भोग प्राप्त हो रहा होता है। जब तुम्हारी स्वादिष्ट भोजनकी इच्छा वैसा भोजन पानेसे निवृत्त हो रही होती है, तब तुम्हें स्वादु भोजनका भोग प्राप्त हो रहा होता है। जब तुम्हारी कोमल स्पर्शकी इच्छा निवृत्त हो रही होती है, तब

तुम्हें उसका (उस स्पर्शका) भोग प्राप्त हो रहा होता है। जिस विषय की इच्छानिवृत्ति उसी विषयके भोगकी प्राप्ति। तो देखो कि जिसकी सभी विषयोंकी इच्छाएं निवृत्त हैं, उसे सब विषयोंका भोग एकदम प्राप्त है कि नहीं, समझे? यह है युगपत् सब कामोंकी प्राप्ति। देखो एक बडा भारी राजा है, जिसे कि हो सकता है, कि सब प्रकारके भोग प्राप्त हों। मधुर भोजन, मनोहर संगीतश्रवण, सुखस्पर्श, सुन्दर रूप आदि सब इंद्रियके भोग तथा सब काम उसे प्राप्त हों। संसारके सभी भोगोंको वह भोग सकता हो, किन्तु उन सब भोगोंको वह युगपत् नहीं भोग सकता......उसमें ऐसा सामर्थ्य नहीं है। जिस समय वह स्वादिष्ट खाद्यका भोग भोग रहा है उस समय उसे सुन्दर गीतश्रवणका भोग प्राप्त नहीं है...उसे उस समय अन्य कोई भी भोग नहीं है। वह इसीमें सब दुख सुखका भेद छिपा है। इस ब्रह्माण्डमें भोगोंकी गणना नहीं है,भोग अनन्त अनन्त प्रकारके हैं। उस विषयी राजाको इनमेंका जब एक प्राप्त है तब उसे शेष अनन्तों भोग प्राप्त नहीं हैं, जिनकी कि उसे कामना है। सब भोगोंको भोगनेका सामर्थ्य रखता हुआ भी वह 'ईश्वर' कहलानेवाला बेचारा राजा एक समयमें एकही भोगका भोग पाता है, दूसरोंका भोग पानेके लिये दुखी होता है। दूसरी तरफ रैक्व जैसे पुरुष हैं जिनका कि भोगका आनन्द सृष्टिकी परिमित वस्तुओंपर निर्भर नहीं है। वह है जो बादशाहोंके बादशाहकी तरह ब्रह्माण्डके समग्र भोगोंको युगपत् भोगनेका सामर्थ्य रखता है और भोगता है, क्योंकि वह आप्तकाम है। वह विश्वंभरके सम्पूर्ण विषयोंसे परमा निवृत्ति अनुभव करता हुआ आनन्दमग्न है, उसे कुछ कामना नहीं है। यह भी क्यों है? क्योंकि उसने सच्चिदानन्द-स्वरूपको देख लिया है, वसे

अपने अन्दर देखकर अब वह बाह्य किस सृष्ट वस्तुका सुख पानेके लिये कामना करे? उसे वह अपार आनन्द प्राप्त है, जिसमें कि ब्रह्माण्डके ये क्षुद्रमति क्षुद्र आनन्द सचमुच एक परम अणुके भी बराबर नहीं हैं। इसलिये कहा है कि "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा"। सम्पूर्ण जगत्के सब प्राणी जो कुछभी अपने समस्त पुण्योंका सुख प्राप्त करते हैं वह सब मिलकर उसके ब्रह्मानन्दमें इस प्रकार समा जाता है जिस प्रकार कि अगाध पारावार (समुद्र) में दो चार सौं बूंदें मिलकर, ओह, वह अनंत पारावार !!! उसमें तो बस, मग्न होतेही बनता है और तब यह संसार तथा इसकी ये महान् वस्तुएँ कहां हैं?

यह उपदेश सुननेके बादसे शिष्यके चित्तमें यदि कोई महत्वाकाङ्क्षा है तो यही है कि, वह जहाँ रहे उसके स्थानकी तरफ निर्देश करते हुए ज्ञानी लोग यह कहें कि यहाँ पर वह पुरुष रहता है, जिसे कि संसारके सब मनुष्य जो कुछ पुण्य करते हैं, उस सबका फल प्राप्त होता है—यहाँ पर वह पुरुष रहता है जो ब्रह्माण्डके सम्पूर्ण भोगोंको युगपत् प्राप्त करता है—यहाँ पर वह पुरुष रहता है जिसने कि उस एकमात्र सर्वोपरि वस्तुको पा लिया है, जिसे कि लाभ कर फिर विश्वमें किसी दूसरी वस्तुको पानेकी कामना नहीं रहती, इच्छा नहीं होती। यह उसकी महत्त्वाकांक्षा इस जन्ममें पूरी हो या कई जन्मोंमें।

व्यक्तिमें शान्ति !

राष्ट्रमें शान्ति !!

जगत्में शान्ति !!!